[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

सहसंपादक
पं० दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध

वार्षिक मूल्य म. आ.से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २४] विषयानुक्रमणिका [अङ्क ४

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २८०

वर्ष २४ : : : : अङ्क ४

चैत्र संवत् १९९९

अप्रैल १९४३

सुदृढ और सुसंस्कृत साधन।

स्थिरा वः सन्तु नेमयो
रथा अश्वास एषाम्।
सुसंस्कृता अभीशवः॥

(ऋ० १।३८।१२)

" ये तुम्हारे रथ, रथ के आरे, तथा रथ के घोडे एवं लगाम सभी साधन सुदृढ और सुसंस्कृत हों। "

जिन साधनों से कार्य सिद्ध करना है, वे सब साधन उत्तम अवस्था में सदा रखना योग्य है। यदि साधनों में न्यूनता रहेगी, तो सिद्धि में भी त्रुटि रहेगी और फल की हानि होगी।

वेद की परीक्षाएं।

वेदाध्ययनका पठनक्रम हमने निश्चित किया है और इस अध्ययनक्रमानुसार कई लोग वेदाध्ययन कर भी रहे हैं।

परीक्षानाम	पाठ्य-मंत्रसंख्या	उपाधि
१ वेद-परिचय	३००	वेद-परिचित
२ वेद-प्रवेश	५००	वेद-प्रविष्ट
३ वेद-प्राज्ञ	१०००	वेद-प्राज्ञ
४ वेद-विशारद	२०००	वेद-विशारद
५ वेद-पारंगत	५०००	वेद-पारंगत
६ वेदाचार्य [स्वतंत्र खोज निबंध]		वेदाचार्य

इस तरह छह परीक्षाओं का पाठ्यमन्त्रक्रम निश्चित हो चुका है। प्रथम परीक्षा की ३ पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं और ये ग्राहकों के पास पहुंच चुकीं हैं और पाठक इन का अध्ययन करने लगे हैं।

द्वितीय परीक्षा का ५०० वेद-मन्त्रों के पाठ्यक्रम का पुस्तक प्रायः छप चुका है। कुछ पृष्ठ छपने शेष हैं। यह भी दो मास में छपकर तैयार हो जायगा।

तीसरी परीक्षा के पुस्तक तैयार हैं, पर छपाई के लिये अभी थोडीसी देरी है।

उक्त ५ परीक्षाओं के लिये ५ वर्षों का समय निश्चित हो चुका है। छठी परीक्षा के लिये पाठविधि तथा समय का निश्चय नहीं है। जिस समय खोजपूर्ण निबंध लिख कर तैयार होगा, तब वह परीक्षकोंके सम्मुख रखा जायगा और सब परीक्षकों की संमति से 'वेदाचार्य' की उपाधि दी जायगी।

कई लोग यहां आकर इस पाठविधिका अध्ययन करना चाहते हैं। उनके लिये कहना इतना ही है कि, यहां रहना-सहना उनके ही व्यय से होगा। जो संस्कृत का बोध अच्छा रखता है, वही आवे। जो संस्कृत शुद्ध लिखना, बोलना न जानता हो, वह न आवे। संस्कृत न जाननेवालों का प्रवेश वेद की श्रेणी में नहीं हो सकेगा। यहां भोजनालय तथा रहनेसहने आदि का व्यय इस समय प्रति मास करीब १८) होगा। समय के अनुसार न्यूनाधिक भी होगा। आनेवाले के साथ आवश्यक कपडे तथा पात्र रहने चाहिये। व्यय का प्रबंध छात्र को अपना स्वयं करना होगा। स्वाध्याय-मण्डल के वेदाध्ययनवर्ग में प्रवेश मिलनेपर आवश्यक ग्रन्थ दिये जायेंगे।

प्रति दिन आठ घण्टों की पढाई होगी। प्रत्येक मन्त्रके ब्राह्मण, आरण्यक में, नाना भाष्योंमें आये विवरण लिखने का कार्य मुख्य है। संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी सुपाठ्य अक्षर लिखनेवाले ही यहां रह सकते हैं। जिनके अक्षर दुष्पाठ्य होंगे, वे किसी तरह यहां नहीं रह सकेंगे। अंग्रेजीका ज्ञान आंग्ल अनुवाद समझनेके लिये जितना आवश्यक है, उतना अवश्य चाहिये।

हिंदी भाषा का ज्ञान परिशुद्ध हिंदी लिखने के लिये जितना आवश्यक है, उतना चाहिये। संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजीका आवश्यक ज्ञान न होगा, तो यहां प्रवेश मिलेगा नहीं। यहां जिस नियम से कार्य करने की रीति निश्चित की गयी है, उसी रीतिसे कार्य करनेवाले यहां रह सकेंगे। यहांके नियमोंका उल्लंघन करनेवाले यहां नहीं रखे जायंगे।

सवेरे ४ घण्टे तथा शाम को ४ घण्टे तक लेखन, अध्ययन आदि यहां करना होता है। इस समय कोई अन्य कार्य नहीं होगा। अनध्यायके दिन में छात्र पूर्ण स्वतंत्र रहेंगे। पाठक यह जानें कि ५ वर्षों में इस सहस्र मन्त्रों का अध्ययन समाप्त करना है। यह आधे से अधिक मन्त्रभाग है। अन्यान्य मन्त्र भी इसी अध्ययन में आनेवाले हैं। इतने मन्त्र प्रति दिन ५० मन्त्रों का अध्ययन न किया जाय, तो समाप्त नहीं होंगे। इसलिये प्रति दिन आठ घण्टों का समय इसी कार्य के लिये निश्चित किया गया है।

जो संस्कृतज्ञ हैं और जो शुद्ध लिखनेके अभ्यासी हैं, वे ही इसमें उत्तीर्ण हो सकते हैं। जो पाठक अपने घर में ही पाठ्य पुस्तकों से स्वयं अध्ययन करेंगे, उन के लिये कोई नियम नहीं है, वे जितना हो सकता है, उतना अध्ययन करते रहें।

—निवेदनकर्ता

नारायण की उपासना।

(८)×

गत लेखमें बताया कि, वेदमें ' नारायणका स्वरूप ' जो पुरुषसूक्त में बताया है, वह यह ' विश्व ' अथवा यह ' संसार ' ही है। मानवों में ' ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ' ये नारायण के क्रमशः सिर, बाहु, उदर और पांव हैं। अतः ये मानवों के उपास्य, पूज्य और संसेव्य हैं। इसी तरह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत, मेघ, वृष्टि, वायु, पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति, नदियां, जलाशय, पर्वत आदि सब वस्तुएं जो दीखती हैं और जो नहीं दीखती, वे सबके सब पदार्थ मिलकर ही नारायण का स्वरूप है। यह सब संसार ही नारायण का शरीर है, इस शरीर में संसार के सब पदार्थ हैं। अर्थात् इन सब पदार्थों का समूह मिलकर ही नारायण का शरीर है। इस में किसी भी वस्तु का त्याग करना नहीं है। सभी संसार में दीखनेवाले पदार्थ नारायण रूप हैं। इसलिये यह सब विश्वका रूप ' नारायणका रूप ' होनेसे उपास्य, पूज्य और सेवा करनेयोग्य है। यह विवरण इस से पूर्वके लेख में किया गया है।

सब धर्मके लोग इस ' संसार को त्याग दो, ' ऐसा उपदेश दे रहे हैं, और वेदका ही अकेला धर्म ऐसा है कि, जो इस संसार को ईश्वर का स्वरूप बताकर उपास्य बता रहा है। पाठकोंके मन पर ' संसार तुच्छ है, ' यह भाव सब अन्य धर्मवादियोंने स्थिर किया है, इसलिये पाठक एकदम इस विश्व को ईश्वर का रूप मानने के लिये तैयार नहीं होंगे, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। धार्मिक वेदियों पर खडे रह कर आजके धर्मोपदेशक जिस तरह का उपदेश करते हैं, वह संसार को तुच्छ मान कर छोड देनेका उपदेश है, इसके विरुद्ध खडे हो कर वेद के वचनों के आधार से हम सब जनता को यह कहना चाहते हैं कि, यह संसार ही ' सच्चिदानन्द प्रभु का रूप ' है। इस प्रभुको पहचानो, इसकी उपासना करो, इसकी पूजा करो, तुम्हारा बेडा पार होगा। जिस को तुम त्याग रहे हो, वही तुम्हारा पूज्य प्रभु है।

आप का प्रभु चार वर्णों और चार आश्रमों के रूप में तथा इनसे बाहर भी अनंत रूपों में आपकी उपासना लेने के लिये और आप को कृतकृत्य करने के लिये खडा है, इस प्रभु का साक्षात्कार करो, इसकी सेवा करो, इसकी सेवा से अपने आप को पुनीत करो। विश्वरूप ही प्रभु है।

पाठक ऐसे लेख पढकर घबरा जाते हैं। इन वाक्यों पर पाठकों का विश्वास नहीं टिकता। अपने आंखसे ईश्वर दीख सकता है, यही उनको विलक्षण दीखता है! पर जो वेदादि शास्त्रों का सत्य सिद्धान्त है, वह यही है। इसलिये पाठकों से निवेदन यह है कि, जो हम लिख रहे हैं, वह इन वचनों से सिद्ध हो रहा है वा नहीं, इतना ही पाठक देखते जायँ। अभी और दस पांच लेख होने तक शंकाएं लिख लिखकर प्रश्न पूछने के कष्ट न करें। यदि आगे के दस लेख पढकर भी वाचकों के पास इस विषय के वेदादि शास्त्रों के पर्याप्त वचन न पहुँचे और इस विषय के प्रतिपादन से पाठकों के मन में शंकाएं रहीं, तो फिर जितने चाहे उतने प्रश्न वे पूछ सकते हैं।

इस लेख में पुनः पुरुषसूक्त के नारायण के स्वरूप का ही विचार करना है। गत लेख में हमने पुरुषसूक्त का जो विचार किया और उससे जो नारायण के स्वरूप का दर्शन पाठकों को बताया, वही स्वरूप श्रीमद्भागवत में अनेकवार पुरुषसूक्त के ही आधार से बताया है। अर्थात् हमने पुरुषसूक्त का जो अर्थ गत लेख में किया, वैसा ही अर्थ श्रीमद्भागवतकारने अपने ग्रन्थमें प्रतिपादन किया है, देखिये–

पश्यन्त्यदो रूपं अदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकम्
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥ ४ ॥

× इस लेखमाला का ७ वाँ लेख ' वैदिक धर्म ' क्रमाङ्क २७१, पृ० ५५ पर ' वेदमें नारायण का स्वरूप ' इस शीर्षक से छपा है।

एतन्नानावताराणां निधानं बीजं अव्ययम् ।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देव-तिर्यङ्-नरादयः ॥ ५ ॥
[श्री. भागवत १।३]

"मनुष्य [अ-दभ्र-चक्षुषा] विशाल दृष्टिसे [अदः रूपं] इस रूपको, ईश्वर के इस रूपको [पश्यन्ति] देखते हैं। इस रूप के हजारों पांव, हजारों जंघाएं, हजारों हाथ और हजारों मुख हैं, इसलिये यह रूप अद्भुत है। इस रूप में हजारों सिर, हजारों कान, हजारों आंखें और हजारों नासिकायें हैं, इसी तरह इसमें हजारों किरीट हैं, हजारों वस्त्र परिधान किये हैं, हजारों कुंडल इसने धारण किये हैं अर्थात् हजारों कर्णभूषण इसने धारण किये हैं, अतः ऐसे अलंकारों से यह प्रभु यहां शोभायुक्त हुआ है। यही ईश्वर [नानावताराणां निधानं] अनेक अवतारों का लय-स्थान है. अर्थात् यही अनेक अवतार लेता है और यही [अव्ययं बीजं] सब का अविनाशी बीज है, अर्थात् इससे ही सब विश्वकी उत्पत्ति होती है। [यस्य अंश-अंशेन] इस ईश्वर के अंशके अंशसे अर्थात् इसके अत्यन्त अल्प अंश से देव, पशु, पक्षी तथा मनुष्यों की उत्पत्ति होती है।"

देव अर्थात् सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि; पशु, पक्षी तथा मनुष्य इसी ईश्वर के एक अल्प अंशसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य मानवों का समावेश होता है।

पाठक इस वर्णन में पुरुषसूक्त का ही अर्थ देख सकते हैं। पुरुषसूक्त के प्रथम मन्त्र में 'हजारों सिर, बाहु, आंख और पावोंवाला पुरुष' वर्णन किया है और बारहवें मन्त्रमें इस ईश्वर के 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये सिर, बाहू जंघा और पांव हैं' यह बात कही है। यही वर्णन इस श्लोक में है। यहां जो [तिर्यक्] शब्द है, उस का अर्थ पशुपक्षी है। इन का वर्णन पुरुषसूक्त में आरण्यक, वायव्य और ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति के वर्णन के प्रसंग में मन्त्र ८ और १० में आया है। इस तरह पुरुषसूक्त के आधारपर ही ये श्लोक श्रीमद्भागवतकारने रचे हैं।

हजारों शिरोभूषण, हजारों वस्त्र, हजारों कपडेलत्ते, हजारों आभूषण इस नारायणने धारण किये हैं, ऐसा यहां कहा है। यह वर्णन पाठक प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इस पृथ्वीपर के सब मानव जो वेषभूषा अपने शरीरपर पहन रहे हैं, वह सब इस ईश्वर की ही पहनी हुई है। इसलिये इस ईश्वर के शरीरपर लाखों पगडियां, लाखों टोपियां, लाखों साफे, लाखों कोट और अन्यान्य वस्त्र हैं। इसके पांवों में भी अनेक प्रकार की जूतियां हैं। मानवप्राणी जो कुछ पहन रहा है, वह सब इस नारायण के शरीरपर पहने कपडे ही हैं। यह वर्णन देखने से स्पष्ट हो जाता है कि, संपूर्ण मानवजाति मिलकर ही यह ईश्वर है। यही पुरुषसूक्त का वेदोक्त वर्णन है। यह प्रभु साक्षात् दिखाई देता है।

यहां कई लोग कहेंगे कि, यह तो परमेश्वर का रूप नहीं है। इनकी शंका दूर करने के लिये निम्नलिखित श्लोक हम पाठकों सामने के धर देते हैं—

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वं ऊर्जितम् ॥ ३ ॥
[श्रीभागवत० १।३]

इस परमेश्वर के अवयवों के स्थानोंपर नाना लोकों के विस्तार की कल्पना की है। अर्थात् इस के अवयवों के स्थानपर नाना लोक रहते हैं। यही [भगवतः रूपं] भगवान् का रूप है और यही [विशुद्धं सत्वं ऊर्जितं] परिशुद्ध, सात्त्विक और सामर्थ्यवान् रूप है। यही बडा महत्त्व का ईश्वरस्वरूप है।

इस श्लोक को देखने से पाठकों को पता चलेगा कि, यही जो विश्वका रूप है, वह ईश्वर का 'शुद्ध सात्त्विक रूप' है। यदि पाठकोंको प्रभुका शुद्ध, सात्त्विक रूप देखने की इच्छा है, तो वे इस रूप को देखें, जो सब विश्वके रूप में सब के सामने प्रकट है। यह पूजा के योग्य, उपासना के योग्य और सेवा के योग्य रूप है।

पाठक विश्व को तुच्छ और त्याज्य समझ रहे हैं और इस विश्व से भिन्न ईश्वर को ढूंड रहे हैं! पर वेद का पुरुषसूक्त तथा ऊपर दिया श्री भागवत का अर्थ इसी विश्वके रूप को ईश्वर का शुद्ध, सात्त्विक रूप करके बता रहे हैं। पाठक देखें कि सत्य कहां छिपा है। और देखिये—

विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥२४॥

आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ।२५
[श्री भागवत २।१]

' विशेष करके उस ईश्वर का यह देह बड़े देहधारिओ मे भी बड़ा है । इस देहमें भूत, वर्तमान और भविष्यकाल का संपूर्ण विश्व दिखाई देता है । इस ब्रह्माण्ड के कोश मे सात आवरण हैं, वही विराट पुरुष कहा जाता है और योगी इसीपर धारणा करते हैं । अर्थात् योगियो की ध्यानधारणा का यह आधार है । "

जो पूर्वस्थान में विराट पुरुष कहा है वही उपास्य रूप है । योगसाधन करनेवाले इसी की ध्यानधारणा करते हैं अब इस का विशेष वर्णन देखिये–

पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥२७॥
उरस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः
सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥२८॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतङ्गः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद् भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरौष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मस्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम् ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति
सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि
सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः ॥३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विडूरुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्मवितानयोगः ॥३७॥
(भाग० २।१)

ब्रह्मोवाच–

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥१४॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥३५॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥३६॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥३७॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥३८॥

ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥३९॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।
जानुभ्यां सतलं शुद्धं जंघाभ्यां च तलातलम् ॥४०॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पादतलतः इति लोकमयः पुमान् ॥४१॥

(भा॰ भाग॰ २।५)

यह वर्णन हम निम्नलिखित तालिका में रख देते हैं, जिससे पाठकों को समझने की सुविधा होगी। पूर्वोक्त श्लोकोंमें जिस क्रम से प्रभुका वर्णन है, उसी क्रमसे निम्नलिखित तालिका में दर्शाया है—

ईश्वर के अवयव	लोकलोकान्तर
,, पांव	पाताल
,, पांवके आगेपीछे के भाग	रसातल
,, एडी	महातल
,, पिंडरियां (२६)	तलातल
,, घुटने	सुतल
,, जंघाएं	वितल, अतल
,, कमर	महीतल, भूः
,, नाभि (२७)	अन्तरिक्ष, भुवः
,, छाती	तारामंडल, स्वः
,, गला	महर्लोक, महः
,, मुख	जनोलोक, जनः
,, ललाट	तपोलोक, तप
,, सिर (२८)	सत्यलोक, सत्यं
,, बाहु	इन्द्र आदि देव
,, कान	दिशाएं
,, नाक	अश्विनौ देव
,, घ्राणेंद्रिय	गन्ध
,, मुख (२९)	प्रदीप्त अग्नि
,, आंख	अन्तरिक्ष
,, दृष्टि	सूर्य
,, पलकें	दिनरात
,, भौंहोंका विस्तार	ब्रह्मलोक
,, तालु	जल
ईश्वर की जिह्वा (३०)	रस
,, छंद (वेद)	मस्तिष्क
,, दाढ	यम
,, दांत	प्रेम
,, हास्य	मायाकौतुक
,, नेत्रकटाक्ष (३१)	सृष्टि-उत्पत्ति
,, ऊपर का होंट	लज्जा
,, निचला ,,	लोभ
,, स्तन	धर्म
,, पीठ	अधर्म
,, शिश्न	प्रजापति (ब्रह्मा)
,, अण्डकोश	मित्रावरुण
,, कोख	समुद्र
,, हड्डियाँ (३२)	पर्वत, पहाड
,, नाडियाँ	नदियाँ
,, केश	वृक्षवनस्पतियाँ
,, श्वासोच्छ्वास	वायु (बल)
,, गति	काल
,, कर्म (३३)	संसार (प्राणियों की हलचल)
,, लंबे बाल	मेघ (जलधाराएं)
,, रंगीन वस्त्र	संध्या
,, हृदय	अव्यक्त प्रकृति
,, मन (३४)	चन्द्रमा
,, विज्ञान	महत्तत्व
,, अन्तःकरण	रुद्र (गिरीश)
,, नाखून	घोडे, खच्चर, ऊंट, हाथी
,, कमरस्थान (३५)	मृगादि पशु
,, शिल्प	पक्षी
,, बुद्धि	मनु
,, निवास	मानव
,, स्वर	गन्धर्व, विद्याधर, चारण, अप्सरा
,, स्मरण (३६)	असुरश्रेष्ठ (प्रल्हाद)
,, मुख	ब्राह्मण
,, भुजाएं	क्षत्रिय

ईश्वर की जंघाएं	वैश्य
,, पांव	शूद्र
,, कर्मयोग (३७)	यज्ञ

इस तालिकासे पूर्वोक्त श्लोकोंका आशय पाठकोंके ध्यान में आ जायगा। परमेश्वर के शरीरके किस अवयवके स्थान में कौनसे देवता हैं, यह ऊपर बताया है। इस से सब विश्व ही परमात्मा के देह के रूप में हमारे सामने है, यह बात सिद्ध हुई। अब अगले श्लोकों का अर्थ देखिये–

द्रव्य [पंचमहाभूत], कर्म, काल, स्वभाव तथा जीव यह सब ही परमेश्वर से भिन्न नहीं है। तत्त्वतः यह विश्व ही विष्णु का स्वरूप है। [१४]

ब्रह्माण्ड का भेद करके यह विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ, इस पुरुष को सहस्रों जंघाएं, सहस्रों पांव, सहस्रों आंख और इसी तरह सहस्रों सिर और मस्तक हैं। [१५]

इस पुरुष के शरीर के अवयवों के स्थानों में सब विश्व की रचना होती है। इस पुरुष के कमर के नीचे सात लोक हैं और कमर के ऊपर सात लोक हैं। [इस तरह चतुर्दश भुवनों का इस परमात्मा का शरीर है।]

आगे का आशय निम्नलिखित तालिका में देते हैं–

ईश्वर के अवयव	विश्व के पदार्थ
,, मुख	ब्राह्मण
,, बाहु	क्षत्रिय
,, जघा	वैश्य
,, पांव [१७]	शूद्र
,, पांव	पृथ्वी, भूः
,, नाभि	अन्तरिक्ष, भुवः
,, हृदय	स्वः
,, छाती [१८]	मह॰
,, कंठ	जनः
,, होंट	तपः
,, स्तन	सत्य
,, सिर	ब्रह्मलोक
,, कमर	अतल
,, जंघा	वितल

ईश्वरके घुटने	सुतल
,, पिंडरियां [४०]	तलातल
,, एडियां	महातल
,, पांव	रसातल
,, पांवका तल	पाताल

इस तरह यह सर्वलोक–मय प्रभु का शरीर है। यही वर्णन संक्षेप से पुरुषसूक्तमें है, जिसका विस्तार यहां किया है। और भी देखिये–

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥१॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने।
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥२॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी।
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ॥३॥
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम्।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ॥४॥
रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु संभृतः।
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ॥५॥
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम्।
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ॥६॥
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ॥७॥
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः।
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ॥८॥
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः।
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ॥९॥
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः।
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ॥१०॥
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्।
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ॥११॥
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्।
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ॥१२॥
सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ॥१३॥
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः।
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ॥१४॥

ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितस्तनयित्नवः ।
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥१५॥
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ॥१६॥
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ।
सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ॥१७॥
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ।
इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥२७॥
इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।
नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३१॥
(श्री० भा० २।६)

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासास्य कर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥३६॥
(श्री० भा० ७।९)

निम्नलिखित तालिका में ईश्वर के अवयव, उस अवयव में देवता और उसका स्थान बताया है—

ईश्वर के अवयव	प्रयोजन	देवता
,, मुख	वाणी	अग्नि
,, सप्तधातु	छंद	वेद
,, जिह्वा (१)	रस	अन्न
,, नथुने	प्राण	वायु
,, घ्राणेन्द्रिय (२)	घ्राण	अश्विनौ, औषधि, गन्ध
,, आंख	रूप	तेज, अग्नि. सूर्य
,, कान (३)	शब्द	दिशा, आकाश
,, त्वचा	स्पर्श	वायु
,, केश (४)	यज्ञ, मेघ	वृक्ष, पर्जन्यधारा
,, श्मश्रु		विद्युत्
,, नख (५)		लोह
,, बाहु	ग्रहण	इन्द्रादि देव
,, पांव (६)	आश्रय, गमन	पृथ्वी
,, शिश्न	आनंद	जल, पर्जन्य
,, वीर्य (७)	उत्पत्ति	प्रजापति
ईश्वर के गुदा (८)	मलत्याग	यम, मित्र, मृत्यु
,, पीठ	अज्ञान	अधर्म
,, नाडियाँ (९)	रुधिरप्रवाह	नद, नदियाँ
,, अस्थि		पर्वत
,, पेट	अन्नरस	अव्यक्त
,, हृदय (१०)	मन	अन्तरिक्ष
,, चित्त (११)	मनन	सत्पुरुष

इस तरह परमेश्वर के इंद्रिय अवयव, वहां की देवता, उसका स्थान और कर्म यहां कहा है। संक्षेप से ११ श्लोकों की यह तालिका बनायी है।

आगे श्लोक १२ से १५ तक का आशय यह है कि ब्रह्मा, शंकर, ऋषि, देव, दानव, मानव, हाथी, गधे, हिरन, सर्प, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, पिशाच, पितर, पशु, सिद्ध, स्तुतिपाठक, वृक्ष, जलचर, स्थलचर, आकाशगामी पक्षी आदि प्राणी, इसी तरह शनि, गुरु आदि ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु, तारका, विद्युत्, मेघ आदि सब जो पूर्वकाल में (भूतं) हो चुका है; (भव्यं) भविष्य में जो होनेवाला है, तथा (भवत्) जो आज विद्यमान है, यह (इदं सर्वं) सब (पुरुष एव) यह नारायणपुरुष ही है। यह सब विश्व इसके वितस्तिमात्र है। यह पुरुष ही स्वयं होने के कारण इसने यह व्याप लिया है, (जिस तरह मिट्टी घड़े को व्यापती है) । (१२–१५)

सूर्य जिस तरह अपने अन्दर और बाहर प्रकाश करता है, उस प्रकार यह नारायणपुरुष अपने विराट् स्वरूप को प्रकाशित करता है और अन्दरबाहर सर्वत्र प्रकाश देता है (१६)। जहां मृत्यु और भय नहीं है, ऐसे मोक्षस्थान का वह स्वामी है। यह भोग से दूर रहने के कारण इस का यह महिमा अवर्णनीय है। (१७)

इस पुरुष के अवयवों की सामग्री से ही मैंने इस नारायणपुरुषकी पूजा की। [२७] अर्थात् यज्ञ की जो सामग्री समिधा, हविर्द्रव्य, घृत, दुग्ध, अन्न आदि सब, इस ईश्वर के ही अवयव हैं। इस पुरुष के अवयवरूपसामग्री से ही मैंने पुरुष का यजन किया है।

तात्पर्य इस सदसदात्मक विश्वमें भगवान् को छोडकर अर्थात् ईश्वर से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। [३१] जो है, वह नाना रूपोंके द्वारा भगवान् ही है।

इस प्रकारके हजारों हस्त, पाद, सिर आदि अवयववाले ईश्वर का साक्षात्कार करके ब्रह्मा भी प्रसन्न होता है। [३१] जो इसको ऐसा जानेगा, वह भी इसी तरह प्रसन्न होगा। प्रसन्नता की प्राप्ति का यही एक अखण्ड साधन है। तथा–

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः।
स वै महापुरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः।
लोका यतोऽथाखिललोकपालाः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३३ ॥

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३४ ॥

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा।
अन्तः समुद्रेऽनुपचन्स्वधातून्
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३५ ॥

यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३६ ॥

प्राणादभूद्यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३७ ॥

श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३८ ॥

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद्विरिञ्चः।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३९ ॥

श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययाऽऽसन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत्।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४० ॥

विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेद शूद्रौ
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४१ ॥

लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युति-
र्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ४२ ॥

(श्री० भा० ८।६)

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा
क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥ २६ ॥

नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा
सोमो मनो द्यौर्भगवन् शिरस्ते ॥ २७ ॥

कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा
रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात्तव सप्तधातव-
स्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥ २८ ॥

मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश
यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत्तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं
देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥ २९ ॥

(श्री० भा० ८।७)

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत्प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥ १३ ॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।
निमेषणं राज्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥ १४ ॥
यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥ १६ ॥
(श्री० भा० १०।४१)

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥ १३ ॥
(श्री० भा० ११।१७)

एतद्वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः।
नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः ॥६॥
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः ॥ ७ ॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः।
रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥ ८ ॥
(श्री० भा० १२।११)

इन श्लोकों में आये वर्णन की तालिका देने की यहां आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यही अनेकवार इससे पूर्व दी गयी है। पर यहां ये श्लोक इसलिये दिये हैं कि, पाठक यह जानें कि श्रीमद्भागवत में दस बार पुरुषसूक्त का अनुवाद दिया है। जिस सूक्त का बार बार अनुवाद दिया जाता है और एक ही ग्रन्थ में दस बार वही विषय दुहरा जाता है, तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, इसका महत्त्व बहुत ही अधिक है। पुरुषसूक्त का यह महत्त्व है। दस बार एक जैसा अनुवाद करके श्रीमद्भागवतने पुरुषसूक्त का आशय स्पष्ट किया है, जो हमने गत लेख में बताया, वही आशय इस सूक्त का है, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। अतः अब इस में कोई सन्देह नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि—

१. सब मानवरूप ईश्वर है, जिसका ज्ञानी सिर है, शूर बाहू है, कृषिकर्मकारी पेट है और कर्मचारी पांव है। मनुष्य का उपास्य देव यही है।
२. ऊपर आकाश में दीखनेवाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रोंसे लेकर भूमितक के अवकाश में जो कुछ है, वह भी ईश्वर का रूप है। इस साधन से मानवरूपी ईश्वर की सेवा करनी है।

मानवसमाज की सेवा करना ही मानव का धर्म है। यह सेवा करनेका साधन इसी विश्वके अन्तर्गत पदार्थ हैं। अतः यह आत्मासे आत्मा की, यज्ञ से यज्ञ की, पुरुष से पुरुष की सेवा कही जाती है।

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः। (ऋ० १०।९०।१६)

यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप ईश्वर के पूजन करने का जो विधान पुरुषसूक्त के अन्तिम मन्त्र में किया है, इस का यह आशय है। इस का अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक हो, तो वह इस तरह हो सकता है।

एक द्विजने एक अतिथि को जल दिया। इसमें आत्मा-द्वारा आत्माने आत्मा की पूजा की। यह कैसे हुआ, सो देखिये—

१. अतिथि ब्राह्मण हुआ, तो वह ईश्वर का मुख है, अर्थात् ईश्वररूप है।
२. जल देनेवाला भी ईश्वरका अवयव ही है, क्योंकि वह त्रैवर्णिक होनेसे ईश्वरके शरीरका वह अंश है।
३. जल तो ईश्वर का वीर्य ही है। अतः यह भी ईश्वर का ही अंश है, अतः—

एक द्विजने एक अतिथि को जल दिया, इस का अर्थ ईश्वरने ईश्वर की ईश्वरके द्वारा सेवा की, अथवा आत्माने आत्माद्वारा आत्मा की उपासना की, किंवा मैं अपने द्वारा अपनी सेवा की, या यज्ञने यज्ञके द्वारा यज्ञपुरुषका यजन किया। इन सब वाक्यों का अर्थ वैदिक परिभाषासे समान ही है, देखिये-

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः। (ऋ० १०।९०।१६)
अग्निना अग्निं अजयन्त देवाः।
(निरु० दै० १२।४।२८)

आत्मनात्मानं अयजन्त देवाः।

यहां 'यज्ञ' पद का अर्थ अग्निपद से किया है। इसी तरह पुरुषसूक्त का अर्थ श्रीमद्भागवत में किस तरह किया है, वह अब देखिये-

(१)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
(ऋ० १०।९०।१)

इस मन्त्र का अर्थ श्रीमद्भागवतकार निम्नलिखित रीतिसे करते हैं-

सहस्र-उरु-अङ्घ्रि-बाहु-अक्षः, सहस्र-आनन-शीर्षवान्। (श्री० भा० २।५।३५)
सहस्र-पाद्-उरु-भुज-आनन-अद्भुतं।
सहस्र-मूर्ध-श्रवण-अक्षि-नासिकं॥
(श्री० भा० १।३।४)

देखिये, ऊपर के मन्त्र का भाव कैसा बताया है। और देखिये-

(२)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
(ऋ० १०।९०।२)
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
(श्री० भा० २।६)

इसी तरह निम्नलिखित मन्त्र का अर्थ देखिये-

(३)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋ० १०।९०।१२)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये-

ब्रह्म-आननं क्षत्र-भुजो महात्मा
विड्ऊरुः अंघ्रिश्रित-कृष्णवर्णः।
(श्री० भा० २।१।३०)
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रं एतस्य बाहवः।
उरोः वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत॥
(श्री० भा० २।५।३७)
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं।
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
ऊर्वो विट् ओजोऽङ्घ्रिरेव शूद्रौ०
(श्री० भा० ८।६।४१)
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥
(श्री० भा० ११।१७।१३)

(४)

पादोऽस्येहाभवत् पुनः (ऋ. १०।९०।४)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

यस्य अंश-अंशेन सृज्यन्ते देव-तिर्यङ्नर-आदयः। (श्री. भा. १।३।५)

(५)

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ १३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोः द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ १४॥ (ऋ. १०।९०)

इन मन्त्रों का अर्थ श्रीमद्भागवत में निम्नलिखित रीति से किया दीखता है-

इन्द्रादयो बाहवः आहुः उस्राः,
कर्णौ दिशः, श्रोत्रं अमुष्य शब्दः।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे,
प्राणोऽस्य गन्धो, मुखं अग्निः इद्धः॥२९॥
द्यौः अक्षिणी, चक्षुरभूत् पतंगः,
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च॥३०॥
(श्री. भा. २।१)

सोमं मनो यस्य समामनन्ति,
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदाः।
यच्चक्षुरासीत्तरणिर्देवयानं,
श्रोत्रा दिशो यस्य हृदश्च खानि।
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य,
अम्भस्तु रेत उदारवीर्यं।
प्राणादभूद्यस्य चराचराणां प्राणः।
(श्री. भा. ८।६।३२-३८)

अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा
क्षितिं विदुर्लोकभवांघ्रिपंकजम्।
दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम्
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान्।
सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः।
(श्री. भा. ८।७।२६-२७)

(६)

सप्तास्यासन् परिधयः। (ऋ. १०।९०।१५)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

सप्तावरणसंयुते। (श्री. भा. २।१।२५)

(७)

यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः। (ऋ. १०।९०।१६)

इस मन्त्र का अर्थ देखिये—

पुरुषावयवैः एते संभाराः संभृता मया।
इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैः अहम्।
तं एव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्॥

(श्री. भा. २।६)

इस तरह श्रीमद्भागवतकारने पुरुषसूक्त के मंत्रों का ही अनुवाद करके अपना ग्रन्थ तैयार किया है। इसकी संगति पुरुषसूक्त के साथ देखनी चाहिये और पुरुषसूक्त की संगति इसके साथ लगानी चाहिये।

इससे पाठकों को पता लग जायगा कि वेद का तत्व-ज्ञान समझने के लिये इस पुरुषसूक्त के ठीक समझने की कितनी आवश्यकता है। सत्, आत्मा, ब्रह्म, नारायण,पुरुष, ईश, ईश्वर ये पद एक ही अर्थ के वाचक हैं। एकही वस्तु है, जिसके ऊपर लिखे अनेक नाम वेदमें आये हैं।

इसी एक वस्तुसे, एक सत् से, एक ही आत्मासे यह सब संसार बना है. अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादादि मानव जितने इस भूमण्डल पर हैं, वे सब इसी एक सत् के रूप हैं, सब गाय आदि पशु, हंस आदि पक्षी, अश्वत्थादि वृक्ष, सोम आदि वनस्पति, पर्वतादि स्थावर, ये सब के सब उसी एक सत् के रूप हैं। जो जो रूप आंख से दिखाई देता है, जो शब्द कानसे सुनते हैं, त्वचा से जिसका स्पर्श किया जाता है, जिह्वा से जिसका रस लिया जाता है, इसी तरह अन्यान्य इंद्रियों से जिसका ग्रहण होता है, वह सब साकल्य से मिलकर प्रभु का रूप है।

यहां साकल्य से अथवा सामग्र्य से ऐसा जानबूझ कर कहा है। इसका कारण पाठकों को विचार की दृष्टि से देखना आवश्यक है। किसीएक इंद्रिय से वस्तु का एक अंश ग्रहण होता है, सब इंद्रियोंसे मिलकर जिसका ग्रहण होता है, वह 'सत्' है। एक इंद्रिय से आंशिक सत्य का ग्रहण होता है। आंखसे 'रूप' का ग्रहण होता है, पर जिस सत् का रूप यह एक अंश है, वह केवल एक ही रूप के ग्रहण से पूर्णतया गृहीत हो चुका, ऐसा समझना अशुद्ध है। प्रत्येक इंद्रिय से आंशिक ग्रहण होता है, संपूर्ण इंद्रियों से, मन, बुद्धि, आत्मा से अर्थात् सब अंतर्बाह्य साधनों के योगसे जिसका ग्रहण होता है, वह 'सत्' है। इसी एक सत् के साथ हमारे सब इंद्रिय संयुक्त होकर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी अपनी ग्रहणशक्ति के अनुसार आंशिक भाव का ग्रहण करते हुए संपूर्ण सत् का ग्रहण करते हैं।

देखिये, कानोंने शब्द का ग्रहण किया, त्वचाने स्पर्श का ग्रहण किया, आंखने रूप का ग्रहण किया, जिह्वा ने रस का ग्रहण किया और नासिकाने गन्ध का ग्रहण किया, इस एक एक इंद्रियने एक सत् वस्तु के पांचवे अंश का ग्रहण किया है, संपूर्ण वस्तु का नहीं। पांचोंसे मिलकर समग्र वस्तु का ग्रहण होता है। इसीलिये उपनिषदादि ग्रंथों में कहा है कि, आंख का वह विषय नहीं है, कानका नहीं इत्यादि। इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्रभु आंखसे बिलकुल दीखता नहीं, परन्तु केवल एक ही इंद्रिय से उस समग्र सत् वस्तु का ग्रहण नहीं होता, परन्तु उस के पांचवें अंश का ग्रहण होता है।

साकल्य से ग्रहण।

इसलिये ईश्वर का साकल्य से ग्रहण करना हो, तो सब इंद्रियोंद्वारा जो ग्रहण होगा, उस का समन्वय करना चाहिये। संपूर्ण विश्व, संपूर्ण संसार, ईश्वर का रूप है, इस का अर्थ एक एक इंद्रिय से प्राप्त हुआ गुण नहीं, परन्तु जो सभी इंद्रियों से अनुभव में आता है, वह सब मिलकर ईश्वर का स्वरूप है। इसीलिये हमने ऊपर कहा कि, साकल्य से जो ग्रहण होता है, वह ईश्वर का रूप है।

अखण्ड रूप।

अखण्डरूप ईश्वर है। बीच में खण्ड, टुकडे या अंश पृथक् पृथक् नहीं हैं। पृथक् विभागों की कल्पना करने से जो विभक्त पदार्थों का ज्ञान होता है, वह ईश्वर का रूप नहीं, परन्तु अविभक्त, अखण्ड, अटूट ऐसी जो एक सत्ता है, जिस का ग्रहण संपूर्ण इंद्रियों से मिलकर होता है, वही अविकल रूप परमेश्वर का है। इसीलिये सर्वत्र कहा है कि, इंद्रियों को ईश्वर का रूप अगोचर है। इस का यह अर्थ नहीं कि, इंद्रियोंको प्रभुके आंशिक रूपका अनुभव नहीं होता। आंशिक अनुभव जो होता है, वह प्रभु के ही गुणों का अनुभव है। इस तरह इंद्रियों की ग्रहणशक्ति अल्प है, यह जान कर इंद्रियों से जो रूपादि

का ग्रहण होता है, वह ईश्वर का आंशिक साक्षात्कार है, ऐसा समझना उचित है।

पांच अन्धे हाथी का दर्शन करते हैं।

एक हाथी को जानने के लिये पांच अन्धे गये थे, उन में से प्रत्येकने हाथी के एक एक अवयव का पता लगाया। वह पता हाथी का तो था ही, पर हाथी के एक अंश का था, संपूर्ण हाथी का नहीं। यही पांच अन्धे हमारे पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वे ईश्वररूपी हाथी का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन में से प्रत्येक जिस का ज्ञान प्राप्त करता है, वह पांचवें अंश का ज्ञान है। वह पूर्ण ज्ञान नहीं है। '**विश्वं विष्णुः**' विश्व ही विष्णु है, यह सत्य है, तथापि विश्वका अर्थात् विष्णुका ज्ञान किसीएक इंद्रियसे पूर्णतया नहीं होता, यह भी उतना ही सत्य है।

दर्शन आधे का होता है।

मनुष्य अपने मित्र को देखता है, पर आधे भाग का ही दर्शन नेत्र कर सकता है। आगेपीछे का दर्शन इकट्ठा करने की शक्ति नेत्र में नहीं है। हम आधे का दर्शन करके पूर्ण का दर्शन हुआ, ऐसा मानते हैं। इसीलिये नेत्रादि इंद्रियसे सत् का पूर्ण दर्शन नहीं हो सकता, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। सत् का साकल्यसे साक्षात्कार करना हो, तो उस कार्य के लिये '**सर्वांगयोग**' करना चाहिये। सब इंद्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान का समन्वय करने से ही 'सत् तत्त्व' का साक्षात्कार हो सकता है। इसी को हमने साकल्य से अनुभव कहा है। पाठक इस का विचार करें। सर्वेंद्रिय-योग से प्रभु का साक्षात्कार होता है।

इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि, 'यह सब संसार नारायण पुरुष ही है' यह वेद का सत्य सिद्धांत है। अर्थात् परमेश्वर विश्वरूप में हमारे सामने है और हम सब उस में हैं, दोनों अनन्य ही हैं। वेदने इस सत्य का दर्शन कराया है। यह दर्शन सब इंद्रियों के योग से होगा। अब इसी का अधिक विवेचन अगले लेख में करेंगे।

वेद का रहस्य।

बारहवां अध्याय। (क)

खोया हुआ सूर्य और खोई हुई गौएं।

[लेखक- श्रीअरविंद, अनुवादक - स्वामी अभयदेवजी]

सूर्य और उषा का विजय कर लेना या इन का फिर से प्रकट होना इस विषय का वर्णन ऋग्वेद के सूक्तों में बहुत पाया जाता है। कहीं तो यह इस रूप में मिलता है कि, 'सूर्य' को ढूंढ कर प्राप्त कर लिया गया और कहीं 'स्व' अर्थात् सूर्य के लोक को प्राप्त किया गया या इस का विजय किया गया, ऐसा वर्णन है। सायणने यद्यपि 'स्व' को 'सूर्य' का पर्याय मान लिया है, फिर भी कई स्थलों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि, 'स्वः' एक लोक का नाम है, उस उच्च लोक का जो कि सामान्य पृथ्वी और आकाश से ऊपर है। कहीं कहीं अवश्य इस 'स्वः' का प्रयोग 'सौर ज्योति' के लिये हुआ है, जो कि सूर्य की और इस के प्रकाश से निर्मित लोक की दोनोंकी ज्योति के लिये है। हम देख चुके हैं कि, वह जल जो कि स्वर्ग से नीचे उतरता है और जो इन्द्र और उस के मर्त्य साथियों द्वारा जीता जाकर उपभोग किया जाता है, 'स्वर्वतीः आपः' के रूपमें वर्णित किया गया है। सायण इस 'आप.' को भौतिक जल मान कर 'स्वर्वतीः' का कोई दूसरा अर्थ निकालने के लिये बाध्य था और इसलिये वह लिखता है कि, इस का अर्थ है, 'सरणवती' अर्थात् बहनेवाले। परन्तु यह स्पष्ट ही एक खींचातानी का अर्थ है, जो कि मूल छन्द से निकलता हुआ प्रतीत नहीं होता और जो शायद किया भी नहीं जा सकता। इन्द्र के वज्र को स्वर्लोक का पत्थर, स्वर्यं अश्मा, कहा गया है। इस का अभिप्राय यह हुआ कि, इस का प्रकाश वही है, जो सौर ज्योति से जगमगाते इस लोक से आता है। इन्द्र स्वयं 'स्वर्पति' अर्थात् इस ज्योतिर्मय लोक 'स्वः' का अधिपति है।

इसके अतिरिक्त जैसे हम देखते हैं कि, गौओंको खोजना और फिर से प्राप्त कर लेना, यह सामान्यतया इन्द्र का कार्य वर्णन किया जाता है और वह बहुधा अङ्गिरस ऋषियों की सहायता से तथा अग्नि और सोम के मंत्र व यज्ञ के द्वारा होता है, वैसे ही सूर्य के खोजने और फिर से पा लेने का सम्बन्ध भी इन्हीं साधनों और हेतुओंके साथ है। साथ ही इन दोनों क्रियाओं का एक दूसरे के साथ निरन्तर सम्बन्ध है। मुझे लगता है कि, स्वयं वेद में ही इस बात की पर्याप्त साक्षी है कि, ये सब वर्णन असल में एक ही महान् क्रिया के अङ्गभूत हैं। गौएं उषा या सूर्य की छिपी हुई किरणें हैं और अन्धकार से उनकी मुक्ति उस सूर्य के जो कि अन्धकार में छिपा हुआ था, उदय हो जाने का कारण होती है या चिह्न है। यही उच्च ज्योतिर्मय लोक 'स्वः' की विजय है, जो कि, हमेशा यज्ञकी, यज्ञिय अवस्थाओं और यज्ञकी सहायक देवों की, सहायता से होती है। मैं समझता हूं, इतने परिणाम निःसन्देह स्वयं वेद की भाषा से निकलते हैं। परन्तु साथ ही वेद की उस भाषा से इस बात का भी संकेत मिलता है कि, यह 'सूर्य' दिव्य-ज्योति को देनेवाली शक्ति का प्रतीक है और 'स्व.' दिव्य सत्य का लोक है और इस दिव्य सत्य की विजय ही वैदिक ऋषियों का वास्तविक लक्ष्य और उनके सूक्तों का मुख्य विषय है। अब मैं यथासंभव शीघ्रता के साथ उस साक्षी की परीक्षा करूंगा, जिस से हम इन परिणामों पर पहुंचते हैं।

सब से पहले, हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियों के विचार में 'स्वः' और 'सूर्य' भिन्न भिन्न वस्तुयें हैं, पर साथ ही इन दोनोंमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। उदाहरण के लिये भरद्वाज के सूक्त (६।७२।१) में सोम और इन्द्र को कहा गया है- "तुम ने सूर्य को प्राप्त किया, तुम ने स्वः को प्राप्त किया, तुमने सब अन्धकार और सीमाओंको

छिन्नभिन्न कर दिया। " ×

इसी प्रकार वामदेव के सूक्त ❀ ४.१६.४ में इन्द्र को कहा है– " जब प्रकाश के सूक्तों द्वारा (अर्कैः) स्वः सुदृश्य रूप में पा लिया गया और जब उन (अङ्गिराओं ने) रात्रि में से महान् ज्योति को चमकाया उस समय उस (इन्द्र) ने अन्धकार के सब बन्धनों को ढीला कर दिया जिससे कि मनुष्य अच्छी तरह देख सकें " पहले वर्णन में हम यह देखते हैं कि, ' स्वः ' और ' सूर्य ' परस्पर भिन्न हैं न कि ' स्वः ' सूर्य का ही एक दूसरा नाम है। पर साथ ही ' स्वः ' का पाया जाना और ' सूर्य' का पाया जाना दोनों क्रियाओं में बहुत निकट संबंध है, बल्कि असलमें ये दोनों मिलकर एक ही प्रक्रिया है और इन का परिणाम यह है कि, सब अन्धकार और सीमायें नष्ट हो जाती हैं।

वैसे ही, दूसरे स्थलमें ' स्वः ' के सुदृश्य रूप में प्रकट होने को रात्रि में से महान् ज्योति के चमक निकलने के साथ जोड़ा गया है, जिसे हम अन्य स्थलों के इस वर्णन के साथ मिला सकते हैं कि, अङ्गिरसोंने अन्धकार से ढके हुए सूर्य को फिर से प्रकट किया। सूर्य को अङ्गिरसोने अपनी सूक्तों या सत्य मंत्रों की शक्तिद्वारा प्राप्त किया और ' स्वः ' भी अङ्गिरसों के सूक्तों के द्वारा (अर्कैः) प्राप्त और प्रकट (सुदृश्य) किया गया। इसलिये यह स्पष्ट है कि, ' स्वः ' में रहनेवाला पदार्थ एक महान् ज्योति है और वह ज्योति सूर्य की ज्योति है।

यदि दूसरे वर्णनोंसे यह स्पष्ट न होता कि, ' स्वः ' एक लोक का नाम है, तो शायद हम यह भी कल्पना कर सकते थे कि, यह ' स्वः ' शब्द सूर्य, प्रकाश, या आकाश का ही वाचक एक दूसरा शब्द होगा। पर बार बार ' स्व ' के विषयमें कहा गया है कि, यह एक लोक है, जो कि रोदसी अर्थात् द्यावापृथिवी से परे है या दूसरे शब्दों में इसे विस्तृत लोक ' उरुलोक ' या विस्तृत दूसरा लोक ' उरु उ लोक ' या केवल वह (दूसरा) लोक ' उ लोक ' कहा है। इसका वर्णन यों किया गया है कि, यह महान् ज्योति का लोक है, जहाँ भयसे नितान्त मुक्ति है और जहां गौएं अर्थात् सूर्य की किरणे स्वच्छन्द होकर क्रीडा करती हैं।

ऋग् + ५।४७।८ में कहा है– " हे इन्द्र ! जानता हुआ तू हमें उस उरु लोक को ' स्व ' तक को प्राप्त कराता है, जो ज्योतिर्मय है, जहां भय नहीं है और जो सुखी जीवन (स्वस्ति) से युक्त है। " ऋग् ३।२।७ में वैश्वानर अग्नि को द्यावापृथिवी और महान् ' स्वः ' में आपूरित होता हुआ वर्णन किया गया है– ' आ रोदसी अपृणदा स्वर्महत्" इसी प्रकार वसिष्ठ अपने सूक्त में विष्णु को कहता है– " ओ विष्णु ! तुमने दृढता से इस द्यावापृथिवी को थामा हुआ है और (सूर्य की) किरणोंद्वारा पृथिवी को धारण किया हुआ है और सूर्य, उषा और अग्नि को प्रादुर्भूत करते हुए तुम दोने, यज्ञ के लिये (अर्थात् यज्ञ के परिणामस्वरूप) इस दूसरे विस्तृतलोक (उरुम् उ लोकम्) को रचा है " ❀ ऋग् ७।९९।३, ४। यहां भी हम सूर्य और उषा की उत्पत्ति या आविर्भाव के साथ विस्तृत लोक स्वः का निकट सम्बन्ध देखते हैं।

इस ' स्वः ' के विषय में कहा है कि, यह यज्ञ के द्वारा मिलता है, यहीं हमारी जीवनयात्रा का अन्त है, यह वह बृहत् निवासस्थान है, जहां हम पहुंचते हैं, वह महान् लोक है, जिसे सुकर्मा लोग प्राप्त करते हैं (सुकृतामु लोकम्)। अग्नि, द्यु और पृथिवी के बीच में दूत होकर विचरता है और इस बृहत् निवासस्थान ' स्वः ' को अपनी सत्ताद्वारा चारों ओर से घेरता है, " क्षयं बृहन्तं परिभूषति ३।३।२ " ॥ यह ' स्वः ' आनन्द का लोक है और उन सब ऐश्वर्यों से भरपूर है, जिनकी वैदिक ऋषियों

× युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्वर्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च। (ऋग् ६. ७२. १)

❀ स्वर्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ (ऋक् ४.१६.४)

+ उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति। (ऋग् ५।४७।८)

❀ " व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः "।
" उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् " ॥ (ऋ० ७।९९।३, ४)

को अभीप्सा होती है । ऋग् ※ ५।४।११ में कहा है—

" हे जातवेदः अग्नि ! जिस पुरुष के लिये, उस के सुकर्मा होने के कारण तू उस सुखमय लोक को प्रदान करता है, वह पुरुष अश्व, पुत्र, वीर, गौ आदि से युक्त ऐश्वर्य को और स्वस्ति को प्राप्त करता है । "

यह आनन्द मिलता है, ज्योति के उदय होने से । आङ्गिरस इसे इच्छुक मनुष्य-जाति के लिये तब पा पाते हैं, जब वे सूर्य, उषा और दिन को प्रकट कर लेते हैं । " स्वः को प्राप्त करनेवाले इंद्रने दिनों को प्रकट कर के इच्छुकों ※ (अङ्गिरसों) के द्वारा-उशिग्भिः विरोधी सेनाओं को जीता है, उसने मनुष्यके लिये दिनोंके प्रकाश को (केतुम् अह्लाम्) उद्भासित किया है और बृहत् सुखके लिये ज्योति को अधिगत किया है- अविन्दज्ज्योति र्बृहते रणाय ३।३४।४ " × ।

यदि इन और इसी प्रकार के अन्य केवल खण्डशः उद्धृत वैदिक वाक्योंको देखा जाय, तो अब तक हमने जो कुछ कहा है, इस सब की व्याख्या बेशक इस प्रकार भी की जा सकती है कि, रेड इण्डियन लोगों की एक धारणा के सदृश आकाश और पृथ्वी से परे सूर्य की किरणों से रचा हुआ एक भौतिक लोक है; यह एक विस्तृत लोक है, वहां मनुष्य सब भय और बाधाओं से स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छाओं को तृप्त करते हैं और उन्हें असंख्य घोडे, गौ, पुत्र, सेवक आदि मिलते हैं । परन्तु जो कुछ हम सिद्ध करना चाहते हैं, वह यह नहीं है । बल्कि इसके विपरीत, यह विस्तृत लोक ' बृहद् द्यौ ' या ' स्वः ' जिसे हमने द्यु और पृथ्वी से पर पहुंच कर पाना है, + यह अतिस्वर्गिक महान् विस्तार, यह असीम प्रकाश एक अति-मानस उच्चलोक है, मनोतीत दिव्य ' सत्य ' और अमर आनन्द का अत्युच्च लोक है और इस में रहनेवाली ज्योति जो इस की सारवस्तु और इस की तात्विक वास्तविकता है, ' सत्य ' की ज्योति है ।

परन्तु इस समय तो इतने पर ही बल देना पर्याप्त है कि, यह एक लोक है, जो किसी अन्धकारके कारण हमारी दृष्टि से ओझल हुआ हुआ है, इसे हमने पाना है, तथा स्पष्ट रूपसे देखना है और यह देखना व पाना इस बात पर आश्रित है कि, उषा जन्म हो, सूर्य का उदय हो और सूर्य की गौएं अपनी गुप्त गुहा से निकल कर बाहर आयें । वे आत्मायें जो यज्ञ में सफल होती हैं, ' स्वर्दृश् ' हो जाती हैं, 'स्वः' को देख लेती हैं और ' स्वर्विद् ' हो जाती हैं, अर्थात् ' स्वः ' को पा लेती हैं या जान लेती हैं । ' स्वर्विद् ' में ' विद् ' धातु है, जिस के पाना और जानना दोनों ही अर्थ हैं और एक दो स्थलों में तो इसके स्थान पर स्पष्ट ज्ञानार्थक ' ज्ञा ' धातु का ही प्रयोग हुआ है और वेद में ही यह भी कहा है कि, अन्धकारमें से प्रकाश को जाना गया ।

अब, ' स्वः ' या इस बृहद् लोक का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न है जो शेष रहता है और इस का निर्णय वेद की व्याख्या के लिये बहुत ही महत्त्व का है । क्योंकि ' वेद जङ्गलियों के गीत हैं ' और ' वेद प्राचीन सत्य ज्ञान की पुस्तक है, ' इन दोनों अति विभिन्न कल्पनाओं में से किसी एक का ठीक होना इस निर्णय पर इधर या उधर हो सकता है । परन्तु इस प्रश्न का पूरा पूरा निर्णय तो इस बृहत् लोक का वर्णन करनेवाले सैकडों बल्कि अधिक प्रकरणों के विवाद में पडे बिना नहीं हो सकता है और

※ यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम् ।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति ॥ (५।४।११)

※ [' उशिग्भिः ' शब्द ' नृ ' की तरह मनुष्य और देवता के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु ' नृ ' के समान ही कभी कभी विशेषकर ' अङ्गिराओं का ही निर्देश करता है ।]

× इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः ।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ (३।३४।४)

+ क्योंकि ऐसा परे पहुंचने का वर्णन अनेकवार हुआ है । उदाहरण के लिये, " मनुष्योंने वृत्र का हनन कर के आकाश और पृथ्वी दोनों को पार कर के अपने निवास के लिये बृहद् लोक को बनाया " घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे । (ऋ० १।३६।८)

यह इन अध्यायों के क्षेत्र से बिल्कुल बाहर का विषय हो जाता है। पर फिर भी अङ्गिरस सूक्तों पर विचार करते हुए और उस के बाद हम इस प्रश्न को फिर उठायेंगे।

तो यह सिद्ध हुआ कि, 'स्वः' को देखने या प्राप्त करने के लिये सूर्य और उषा के जन्म को एक आवश्यक शर्त मानना चाहिये और इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, वेदों में इस सूर्य की कथा को या आलंकारिक वर्णन को तथा 'सत्य मन्त्रों' के द्वारा अन्धकार में से ज्योति को चमकाने, पाने और जन्म देने के विचार को क्यों इतना महत्त्व दिया गया है? इस को करनेवाले इन्द्र और अङ्गिरस हैं और ऐसे स्थल बहुत से हैं, जिन में इस का वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि, इन्द्र और अङ्गिराओं ने 'स्वः' या 'सूर्य' को पाया (अविदत्), इसे चमकाया या प्रकाशित किया (अरोचयत्), इसे जन्म दिया ❀ (अजनयत्) और इसे विजय करके अधिगत किया (सनत्)। वास्तव में अधिकतर अकेले इन्द्र का ही वर्णन आता है। इन्द्र वह है, जो रात्रि में से प्रकाश का उदय करता है और सूर्य को जन्म देता है- "क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य ३।४९।४"।

उसने सूर्य और उषाको उत्पन्न किया है × (२।१२।७)। या और विस्तृत रूप में कहें, तो उसने सूर्य, द्यौ और उषा तीनों को इकट्ठा जन्म दिया है + (६।३०।५)। स्वयं चमकता हुआ, वह उषा को चमकाता है, स्वयं चमकता हुआ, वह सूर्यको प्रकाशमय करता है- "हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः ३।४४।२"। ये सब उस इन्द्रके महान् कर्म हैं, 'जजान सूर्यं उषसं सुदंसाः' (३।३२।८) ✻। वह सुवज्र इन्द्र अपने शुभ्र वर्ण (चमकते हुए) सखाओंके क्षेत्र ❦ को जीत कर अपने अधिकार में कर लेता है, सूर्य को अधिकृत करता और जलों को अधिकृत करता है- 'सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः १।१००।१८'। वह इन्द्र दिनोंको जन्म देनेद्वारा 'स्वः' को भी जीतनेवाला है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं [स्वर्षा]। इन सब पृथक् पृथक् वेद के वाक्यों में सूर्य के जन्म का हम यह भी अर्थ ले सकते हैं कि, यह सूर्य की प्रारम्भिक उत्पत्ति का वर्णन है, जो सूर्य पहले नहीं था, उसे देवताओंने रचा, परन्तु जब हम इन वाक्यों का दूसरे वाक्यों के साथ समन्वय कर के देखेंगे, तो हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा।

सूर्य का यह जन्म उषा के साथ उसका जन्म है, उदय है, रात्रि में से उसका जन्म है। यह जन्म यज्ञ के द्वारा होता है- "इन्द्र सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत् [२।२१।४।] इन्द्रने अच्छी प्रकार यज्ञ कर के उषाओं और सूर्य को उत्पन्न किया।" और मनुष्य की सहायता से यह सम्पन्न होता है- "अस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत्" - हमारे 'मनुष्यों' के द्वारा उसने सूर्य को जीता [१।१००।६]। और बहुत से मन्त्रों में इसे अङ्गिरसों के कार्य का फल वर्णन किया गया है और इस का सम्बन्ध गौओं के मुक्त होने और पहाडियों के तोडे जाने के साथ है।

यह सब अवस्था है, जो कि हमें ऐसी कल्पना नहीं करने दे सकती- जो कि अन्यथा की जा सकती थी- कि सूर्य का जन्म या प्राप्ति केवल उस आकाश [इन्द्र] का वर्णन है, जिसमें प्रति दिन उषःकालमें सूर्यका उदय होता है। जब इन्द्र के बारे में यह कहा जाता है कि, वह घने अन्धकार में भी ज्योति को पा लेता है [सो अन्धे चित्तमसि ज्योतिर्विदत्] तो यह स्पष्ट है कि, यह उसी ज्योति की ओर संकेत है, जिस एक ज्योति को अग्नि और सोमने बहुतोंके लिये पाया था- ["अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः" १.९३.४]- जब कि उन्होंने पणियों की गौओंको चुराया

❀ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि, यज्ञ में देवताओं के प्रकट होने को वेद में उन के जन्म के रूप में वर्णन किया गया है।

× यः सूर्यं य उषसं जजान। [ऋ० २।१२।७]

+ साकं सूर्यं जनयन् द्यामुषासम्। [ऋ० ६।३०।५]

✻ इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः॥ [ऋ० ३।३२।८]

❦ क्या यह वही क्षेत्र नहीं है, जिस में अत्रि ने चमकती हुई गौओं को देखा था?

था ¶। यह " वह जागृत ज्योति है, जिसे सत्य की वृद्धि करनेवालोंने उत्पन्न किया था, एक देव को देव [इन्द्र], के लिये उत्पन्न किया ‡ [८.८९.१] " यह वह गुप्त ज्योति [गुह्य ज्योतिः] है, जिसे पितरोंने, अङ्गिरसोंने उस समय पाया था, जब कि उन्होंने अपने सत्य मन्त्रोंके द्वारा उषा को जन्म दिया था।

यह वही ज्योति है, जिस का वर्णन मनु वैवस्वत या कश्यप ऋषि के ' विश्व देवा ' देवताक रहस्यमय सूक्त में है, जिस में कहा गया है- " उन में से कुछने ऋक् का गायन करते हुए महत् सामको सोच निकाला और उस से उन्होंने सूर्यको चमकाया ८.२९.१० "। § और यह ज्योति मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई हो, ऐसा नहीं है; क्योंकि ऋ० × ७.९१.१ में कहा है- " हमारे नमस्कार से वृद्धि को पानेवाले, प्राचीन और निष्पाप देवोंने [अन्धकार की शक्तियों से] आच्छादित मनुष्य के लिये सूर्य से उषा को चमकाया "।

यह उस सूर्य की प्राप्ति है, जो अन्धकार के अन्दर रह रहा था और यह प्राप्ति अङ्गिराओंने अपने दस महीनों के यज्ञ के द्वारा की। वेद की इस कहानी या अलंकार-वर्णना का प्रारंभ कहीं से भी क्यों न हुआ हो यह बहुत प्राचीन है और बहुत जगह फैली हुई है और इस में यह कल्पना की गई है कि, सूर्य एक लम्बे काल तक लुप्त [खोया हुआ] रहा और इस बीच में मनुष्य अन्धकार से आच्छादित रहा। यह कहानी भारतवर्ष के आर्यलोगों में ही नहीं किन्तु अमेरिका के उन ' मय ' लोगों में भी पाई जाती है, जिन की सभ्यता अपेक्षया जंगली और संभवतः इजिप्शियन संस्कृति का पुराना रूप थी। वहां भी यही किस्सा है कि, सूर्य कई महीनों तक अन्धेरे में छिपा रहा और बुद्धिमान् लोगों [अंगिरस ऋषियों ?] की प्रार्थनाओं और पवित्र गीतों से वह फिर प्रकट हुआ। वेद के अनुसार ज्योति का यह पुनरुदय पहिले पहल आंगिरस नामक सप्तर्षियों से हुआ है, जो कि मनुष्यों के पूर्व पितर हैं और फिर इसे उन से लेकर निरन्तर मनुष्य के अनुभव में दोहराया गया है।

इस विश्लेषणद्वारा हमें यह मालूम हो जायगा कि, वेदमें जो ये दो कहानियां आती हैं- पहिली यह कि सूर्य लुप्त था और यज्ञद्वारा इन्द्र तथा मंत्रद्वारा और आंगिरसोंने उसे पुनः प्राप्त किया और दूसरी यह कि गौएं लुप्त थीं और उन्हें भी मन्त्रद्वारा इन्द्र और आंगिरसोंने ही पुनः प्राप्त किया- ये दो अलग अलग गाथायें नहीं, किन्तु ये वास्तव में एक ही गाथा है। इस प्रकार इस पर हम पहलेही बल दे चुके हैं, जब कि हमने गौओं और उषा के परस्पर संबंधके विषय में विवाद चलाया था। गौएं उषा की किरणें हैं, सूर्य की ' गौएं ' हैं; वे भौतिक शरीरधारी पशु नहीं हैं। लुप्त गाएं सूर्य की लुप्त हुई हुई किरणें हैं और उन का फिर से उदय होना लुप्त सूर्य के पुनरुदय की पहले से सूचना देता है। परन्तु अब यह आवश्यक है कि, स्वयं वेद की ही स्पष्ट स्थापनाओं के आधारपर इस एकात्मता को सिद्ध करके उन सब सन्देहों को दूर कर दिया जाय, जो यहां उठ सकते हैं।

वस्तुतः वेद हमें स्पष्ट रूप से कहता है कि, गौ ज्योति हैं और वह बाडा [व्रज] जिस में वे छिपी हुई हैं, अन्धकार है। ऋ० १.९२.४ में जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, यह दिखा ही दिया गया है कि, गौ और उनके बाडे का वर्णन विशुद्ध रूप से एक रूपक ही है- " उषाने गौके बाडे की तरह अन्धकार को खोल दिया "। ॐ गौओं की पुनः प्राप्ति की कहानी के साथ ज्योति के पुनरुदय का सम्बन्ध भी सतत पाया जाता है; जैसे कि ऋ० १.९३.४ में कहा है- " तुम दोनोंने पणियों के यहां से गौओं को चुराया ...... तुमने बहुतों के लिये एक ज्योति को

¶ अग्नीषोमा चति तद्वीर्यं वा यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः ॥ १.९३.४

‡ येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि। ऋ० ८.८९.१

§ अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ८.२९.१०

× कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन्।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण। ऋ० ७.९१.१

ॐ ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः॥ ऋ० १.९२.४

पाया । " अथवा जैसे कि ऋ० २.२४.३ ✱ में वर्णन है ' देवों में सब से श्रेष्ठ देव का यह कार्य है, उसने दृढ स्थानोंको ढीला कर दिया, कठोर स्थानोंको मृदु कर दिया।

वह बृहस्पति गौओं [किरणों] को हाँक लाया; उसने मन्त्रोंके द्वारा [ब्रह्मणा] बलका भेदन किया, उसने अन्धकार को अदृश्य कर दिया और ' स्वः ' को प्रकाशित किया। " और ऋ० ५.३१.३ ✱ में हम देखते हैं कि- " उस [इन्द्र] ने दोग्ध्री गौओं को आवरण कर लेनेवाले बाडे के अन्दर प्रेरित किया, उसने ज्योति के द्वारा अन्धकार के आवरण को खोल दिया। " पर इतना ही नहीं, बल्कि यदि कोई कहे कि, वेद में एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ कोई संबंध नहीं है और वेदके ऋषि भाव और युक्ति के बंधनोंसे सर्वथा स्वतन्त्र होकर अपनी मानसिक कल्पना से गौओं से सूर्य तक और अन्धकार से द्राविड लोगों की गुफा तक मनमौजी उडाने ले रहे हैं, तो इसके उत्तर में हम निश्चयपूर्वक एकात्मता को सिद्ध करनेवाले वेद के दूसरे प्रमाण भी दे सकते हैं। ऋ १.३३.१० ✱ में कहा है- " वृषभ इन्द्रने वज्र को अपना साथी बनाया अथवा उस का प्रयोग किया [युजम्], उसने ज्योति के द्वारा अन्धकार में से किरणों [गौओं] को दुहा। "

हमें स्मरण रखना चाहिये कि वज्र ' स्वर्य अश्मा ' है और इसके अन्दर ' स्वः ' की ज्योति रहती है। फिर ४.५१.२ × में जहां कि पणियोंका प्रश्न है, कहा है- " स्वयं पवित्र रूप में उदित होती हुई, और दूसरों को भी पवित्र करनेवाली, उषाओंने बाडे [व्रज] के दरवाजों को खोल दिया और अन्धकार को भी खोल दिया "- (व्रजस्य तमसो द्वारा) । यदि इन सब स्थलोंके उपस्थित होने पर भी हम इस पर आग्रह करें कि, वेदमें आई गौओं और पणियोंकी कहानी एक ऐतिहासिक किस्सा है, तो इस का कारण यही हो सकता है, कि स्वयं वेदकी अन्तःसाक्षी के होते हुए भी हम वेदों से अपना बना ही अर्थ निकालने पर तुले हुए हैं। नहीं तो हमें अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि पणियोंकी यह परम गुप्त निधि " निधिं पणीनां परमं गुहाहितम् "- पार्थिव पशुओं की संपत्ति नहीं है, किन्तु जैसा कि परुच्छेप दैवोदासीने ऋ० १.१३०.३ में स्पष्ट किया है, ' यह द्यु की निधि, पक्षी के बच्चे की तरह, गुप्त गुहामें छिपी पडी है; गौओं के बाडे की तरह, अनन्त चट्टान के बीच में ढकी पडी है "- [अविन्दद् दिवो निहितं गुहा निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि । व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्] ।

ऐसे स्थल वेद में बहुतसे हैं, जिन से दोनों कहानियों में परस्पर संबंध या एकात्मता प्रकट होती है। मैं नमूने के लिये केवल दो-चार का ही उल्लेख करूंगा। ऋ० १.६२ में, जिन में इस कहानी के विषय में कुछ विस्तार से कहा गया है, उन में से यह एक है- हम पाते हैं, " हे शक्तिशाली इन्द्र ! तूने दशग्वाओं [अंगिरसों] के साथ मिलकर बडे शब्दके साथ बल का विदारण किया। अंगिराओं से स्तुति किये जाते हुए तूने उषा, सूर्य और गौओं के द्वारा सोम को प्रकाशित किया ०। " ऋ० ६.१७.३ + में कहा है-- " हे इन्द्र तू स्तोत्रों को सुन और हमारी वाणियों के द्वारा बढ, सूर्यको प्रगट कर, शत्रुओं का हनन कर और गौओं को भेदन करके निकाल ला। " ऋ० ७.९८.६ ✱ में हम देखते हैं- " ओ इन्द्र ! गौओं की यह सब संपत्ति जो तेरे चारों तरफ है और जिसे तू सूर्य-

✱ तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता ।
उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा बलमगूहत्तमो व्यचक्षयत् स्वः ॥ २.२४.३

✱ प्राचोदयत् सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः ॥ ५.३१.३

✱ युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् । १.३३.१०

× स्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥ ४.५१.२

० स रण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः ॥
गृणानो अंगिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः ॥ १.६२.४ ५

+ श्रुधि हवं वावृधस्वोत गीर्भिः । आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ ६.१७.३

✱ तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य । गवामसि गोपतिरेक इन्द्र । ७.९८.६.

रूपी आंख से देखता है, वैसी ही है ।

तू इन गौओंका अकेला स्वामी है- [गवामसि गोपतिरेक इन्द्र] " । और किस प्रकारकी गौओं का वह इन्द्र स्वामी है, यह हमें सरमा और गौओं के वर्णनवाले सूक्त ३.३१से मालूम होता है-- " विजेत्री [उषायें] उस के साथ संगत हुईं और उन्होंने अन्धकारमें से महान् ज्योतिको जाना । उसे जानती हुईं उषायें उस के पास गईं, इन्द्र गौओं का एकमात्र स्वामी हो गया-- [पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः] " । इसी सूक्त में आगे बताया गया है कि, किस प्रकार मनके द्वारा और सत्य [ऋत] के सारे मार्ग को खोज लेनेद्वारा सप्त ऋषि आंगिरस गौओं को उनके दृढ कारागारसे निकाल कर बाहर लाये और किस प्रकार सरमा, जानती हुई, पर्वत की गुफा तक और उन अविनश्वर गौओं के शब्द तक पहुंच पाई । × उषाओं और ' स्वः ' की बृहत् सौर ज्योति की प्राप्तिके साथ वही संबंध हम ७.९० ४ में पाते हैं- ' अपने पूर्ण प्रकाश में, बिना किसी दोष, छिद्र या त्रुटि के, उषायें निकल पडीं; उन [अंगिराओं] ने ध्यान करके बृहत् ज्योति [उरु ज्योतिः] को पाया । कामना करनेवालोंने गौओं के विस्तार को खोल दिया; आकाश से उनके ऊपर जलों की वर्षा हुई । ❀ '

इसी प्रकार २.१९ ३ में भी दिन, सूर्य और गौओं का वर्णन है-- ' उसने सूर्य को जन्म दिया, गौओं को पाया और रात्रि में से दिनों के प्रकाश को प्रकट किया + । ' ४.१ में, यदि इस का दूसरा अर्थ न हो, तो उषाओं और गौओं को मानकर कहा गया है-- ' चट्टान जिन का बाडा है, दोग्ध्री [दोहन देनेवाली], अपने ढकनेवाले कारागार में चमकती हुईं, उनकी पुकार का उत्तर देती हुईं उषाओं को उन्होंने बाहर निकाला ✠ । परन्तु इस मन्त्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि, हमारे पूर्व पितर अंगिराओं द्वारा, जिनका इससे पहले मन्त्र में वर्णन हुआ है, पुकारी हुई उषाओं ने उन के लिये गौओं को बाहर निकाला । फिर ६.१७ ५ में हम देखते हैं कि, उस बाडे का भेदन सूर्य के चमकने का साधन हुआ है-- ' तूने सूर्य और उषा को चमकाया, दृढ स्थानों को तोडते हुए; उस बडी और दृढ चट्टान को अपने स्थान से हिला दिया, जिसने गौओं को घेरा हुआ था × । ' अन्त में ३.३९ में हमें कहानी के रूप में दोनों अलंकारों की बिल्कुल एकात्मता मिलती है-- ' मर्त्यों में कोई भी इन की निन्दा करनेवाला नहीं है [अथवा मैं इसे इस प्रकार कहूं, कोई मानवीय शक्ति इन को बद्ध या अवरुद्ध करनेवाली नहीं] जो हमारे पितर [पणियों की] गौओं के लिये लडे हैं ।

बडे बडे कामों को करनेवाले और महिमाशाली इन्द्रने उनके लिये गौओं के दृढ बाडों को खुला कर दिया । जहां अपने सखाओं नवग्वाओं के साथ एक सखा इन्द्रने अपने घुटनों के बल गौओं को ढूंढते हुए, जहां दस दशग्वाओंके साथ इन्द्रने अन्धकारमें रहते हुए असली सूर्यको (अथवा

× अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन् ।
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः ॥
वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचाहिन्वन् मनसा सप्त विप्राः ।
विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥
विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक् कः ।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ (ऋ० ३।३१।४-६)

❀ उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥ ७.९०.४

\+ अजनयत् सूर्यं विदद् गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत् ॥ २.१९ ३

✠ अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋतमाशुषाणाः ।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ ४.१,१३

× येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत् ।
महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात् । ६ १७.५

मेरी व्याख्या में, ' सत्य ' के सूर्य को पा लिया । ३.३९. ४-५ ' + । यह स्थल पूर्ण रूप से निर्णयात्मक है । गौएं पणियों की गौएँ हैं, जिनका पीछा करते हुए अङ्गिरस हाथों और घुटनों के बल गुफा में घुसते हैं । पता लगानेवाले इन्द्र और अङ्गिरस हैं, जिन्हें दूसरे मन्त्रों में नवग्वा और दशग्वा कहा है । और वह वस्तु जो पर्वत की गुफा में पणियों के बाड़ में घुसने पर मिलती है, पणिओं द्वारा चुराई गई कोई आर्यों की धनदौलत या भौतिक गौ नहीं, बल्कि ' सूर्य है, जो अन्धकार में छिपा हुआ है ' [सूर्यं तमसि क्षियन्‌] ।

इसलिये इस स्थापना में अब कोई प्रश्न शेष नहीं रहता कि, वेद की गौएं, पणियों की गौएँ वे गौएँ जो चुराई गई, जिन के लिये लड़ा गया, जिन का पीछा किया गया और जिन्हें फिर से पा लिया गया, वे गौएं जिन की ऋषि कामना करते हैं, जो मन्त्र व यज्ञ के द्वारा और प्रज्वलित अग्नि और देवों को बढ़ानेवाले छन्दों और देवों को मस्त करनेवाले सोम के द्वारा जीती गईं, प्रतीकरूप गौएँ हैं, वे ' प्रकाश ' की गौएं हैं । और वेद के ' गो ', और 'उस्रिया' आदि अन्य शब्दों के आन्तरिक भावके अनुसार वे चमकने वाली, प्रकाशमान, सूर्य की गौएं [किरणें] हैं, उषा के चमकीले रूप हैं ।

इस निश्चित परिणाम—जिसके सिवाय और कुछ परिणाम निकल नहीं सकता— से हम यह समझ सकते हैं कि, वेद की व्याख्या का रहस्यमय आधार जंगलियों की पूजा के स्थूल प्रकृति-वाद से कहीं बहुत ऊपर सुरक्षित है । वेद अपने आप को प्रतीक-रूपवर्णन की पवित्र, धार्मिक पुस्तक के रूप में प्रकट करते हैं, जिस में सूर्य की पूजा या उषा की पूजा का अथवा उस उच्च आन्तरिक ज्योति सत्य के सूर्य [सत्यम् सूर्यम्] का सुन्दर आलङ्कारिक वर्णन है, जो हमारे अज्ञानरूपी अन्धकार से ढका हुआ है, जो पक्षी के शिशु की तरह, दिव्य ' हंस ' की तरह जड़ प्राकृतिक सत्ता की अनन्त चट्टान के पीछे छिपा हुआ है— " अनन्ते अन्तरश्मनि " ।

यद्यपि इस अध्याय में मैंने अपने आप को कुछ कठोरता के साथ इस विषय के प्रमाणों तक ही सीमित रखा है कि गौएं उस सूर्य की ज्योति हैं, जो कि अन्धकारमें छिपा हुआ है, फिर भी ' सत्य ' की ज्योति और ज्ञान के सूर्य के साथ उन का संबंध उद्धृत किये गये एक-दो मन्त्रों में स्वयं ही स्पष्ट हो गया है । हम देखेंगे कि, यदि हम अलग अलग मन्त्रों को न लेकर अंगिरस सूक्तों के सभी स्थलों की परीक्षा करें, तो जो संकेत हमने इस अध्याय में पाया है, वह अधिकाधिक स्पष्ट और निश्चित रूपमें हमारे सामने आयेगा । परन्तु पहले हमें अंगिरस ऋषियों और गुहा के निवासी उन रहस्यपूर्ण पणियों पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये, जो अन्धकार के साथी हैं और जिन से छीन कर ये अंगिरस ऋषि खोई हुई चमकीली गौओंको और खोये हुए सूर्य को पुनः प्राप्त करते हैं ।

अध्याय १२ (ख)

उषा की गौएँ ।

वेद की सात नदियों को, जलों को, ' आपः ' को वेद की आलंकारिक भाषा में अधिकतर सात मातायें या सात पोषक गौएँ, ' सप्त धेनवः ', कह कर प्रगट किया गया है । स्वयं ' अप् ' शब्द में ही दो अर्थ गूढ रूपसे रहते हैं; क्योंकि ' अप् ' धातु के मूल में केवल बहना अर्थ ही नहीं है, जिससे कि बहुत सम्भव है जलों का भाव लिया गया है, किंतु इसका एक और अर्थ 'जन्म होना' 'जन्म देना' भी है, जैसे कि हम सन्तानवाचक ' अपत्य ' शब्द में और

\+ नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः ।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥
सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन् ।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् ॥ ३.३९.४-५

दक्षिण भारत के पिता अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'अप्प' शब्द में पाते हैं। सात जल जीवन के जल हैं; ये वे मातायें हैं, जिन में से सत्ता के सब रूप पैदा होते हैं। परन्तु और प्रयोग भी हमें मिलते हैं- 'सप्त गावः', सात गौएं या सात ज्योतियां और ' सप्तगु ' यह विशेषण, अर्थात् वह जिसमें सात किरणें रहती हैं। गु [गव.] और गौ [गावः] ये दोनों आदि से अन्ततक सारे वैदिक मन्त्रों में दो अर्थों में आये हैं, गाय और किरणे। प्राचीन भारतीय विचार-धारा के अनुसार सत्ता और चेतना दोनों एक दूसरे के रूप थे। और इस अदिति को भी--जो वह अनन्त सत्ता है, जिससे देवता उत्पन्न हुए हैं और जो अपने सात नामों और स्थानों [धामानि] के साथ माता के रूप में वर्णन की गई है- अनन्त चेतना भी है, गौ है या वह आद्य ज्योति है जो सात किरणों, ' सप्त गाव , ' में व्यक्त होती है। इसलिये सत्ता के सप्त रूप होने के विचार को एक दृष्टिकोणसे तो समुद्रसे निकलनेवाली नदियों, ' सप्त धेनवः ', के अलंकार में चित्रित कर दिया गया है और दूसरी दृष्टि के अनुसार इसे सबको रचनेवाले पिता, सूर्यसवितृ, की सात किरणों, 'सप्त गावः,' के अलकारका रूप दे दिया है।

गौ का अलंकार वेद में आनेवाले सब प्रतीकों में सब से अधिक महत्त्व का है। कर्मकाण्डी के लिये ' गौ ' का अर्थ भौतिक गाय मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं, वैसे ही जैसे उस के लिये इस के साथ आनेवाले ' अश्व ' शब्द का अर्थ केवल भौतिक घोडा ही है, इस से अधिक इस में कुछ अभिप्राय नहीं है, अथवा जैसे ' घृत ' का अर्थ केवल पानी या घी है और ' वीर ' का अर्थ केवल पुत्र या अनुचर या सेवक है। जब ऋषि उषा की स्तुति करता है- " गोमद् वीरवद् धेहि रत्नम् उषो अश्वावत् " उस समय कर्मकाण्डपरक व्याख्याकार को इस प्रार्थना में केवल उस सुखमय धन-दौलत की ही याचना दीखती है, जो गौओं, वीर मनुष्यों (या पुत्रों) और घोडों से युक्त हो। दूसरी तरफ यदि ये शब्द प्रतीकरूप हों, तो इसका अभिप्राय होगा- " हमारे अन्दर आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करो, जो ज्योति से, विजयशील शक्ति से और प्राण-बलसे भरपूर हो।" इसलिये यह आवश्यक है कि एक बार सभी स्थलों के लिये वेद-मन्त्रों में आनेवाले ' गौ ' शब्द का अर्थ क्या है, इस का निर्णय कर लिया जाय। यदि यह सिद्ध हो जाय, कि यह प्रतीकरूप है, तो निरन्तर इस के साथ आनेवाले अश्व (घोडा), वीर (मनुष्य या शूरवीर), अपत्य या प्रजा (औलाद), हिरण्य (सोना), वाज (समृद्धि, या सायण के अनुसार अन्न) इन दूसरे शब्दों का अर्थ भी अवश्य प्रतीकरूप और इसका सजातीय ही होगा।

' गौ ' का अलंकार वेद में निरन्तर उषा और सूर्य के साथ सम्बद्ध मिलता है। इसे हम उस कथानक में भी पाते हैं, जिस में इन्द्र और बृहस्पति ने सरमा कुतिया (देवशुनी) और अङ्गिरस ऋषियों की मदद से पणियों की गुफा में से खोई हुई गौओं को फिर से प्राप्त किया है। उषा का विचार और अङ्गिरसों का कथानक ये मानो वैदिक सम्प्रदायके हृदयस्थानीय हैं और इन्हें करीब-करीब वेद के अर्थों के रहस्य की कुञ्जी समझा जा सकता है। इसलिये ये ही दोनों हैं, जिन की हमें अवश्य परीक्षा कर लेनी चाहिये, जिस से आगे अपने अनुसंधान के लिये हमें एक दृढ आधार मिल सके।

अब उषासंबन्धी वेद के सूक्तों को बिल्कुल ऊपर ऊपर से जांचने पर भी इतना बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि, उषा की गौएं या सूर्य की गौएँ ' ज्योति ' का प्रतीक हैं, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकतीं। सायण खुद इन मन्त्रों का भाष्य करते हुए विवश होकर कहीं इस शब्द का अर्थ ' गाय ' करता है और कहीं ' किरणें, ' हमेशा की अपनी आदत के अनुसार परस्पर संगति बैठाने की भी कुछ पर्वाह नहीं रखता; कहीं वह यह भी कह जाता है कि, ' गौ ' का अर्थ सत्यवाची ' ऋत ' शब्द की तरह पानी होता है। असल में देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इस शब्दसे दो अर्थ लिये जाने अभिप्रेत हैं- (१) 'प्रकाश' इस का असली अर्थ है और (२) ' गाय ' इस का स्थूल रूपक-रूप और शाब्दिक अलंकारमय अर्थ है।

ऐसे स्थलों में गौओं का अर्थ ' किरणें ' इस में कोई मतभेद नहीं हो सकता, जैसे कि इंद्र के विषय में मधुच्छन्दस् ऋषिके सूक्त (१ ७) का तीसरा मन्त्र है-' इंद्रने दीर्घ दर्शन के लिये सूर्य को द्युलोक में चढाया उसने उसे उसकी किरणों (गौओं) के द्वारा सारे पहाड पर पहुंचा

दिया- वि गोभिः अद्रिम् ऐरयत् × ।' परन्तु इन के साथ ही सूर्य की किरणें ' सूर्य ' देवता की गौएं हैं, हीलियस (Helios) की वे गौएं हैं, जिन्हें ओडिसी (Odyssey) में ओडिसस (Odysseus) के साथियोंने वध किया है, जिन्हें हर्मिज (Hermes) के लिये कहे गये होमर के गीतों में हर्मिजने अपने भाई अपोलो (Apollo) के पास से चुराया है। ये वे गौएं हैं, जिन्हें ' बल ' नामक राक्षसने या पणियोंने छिपा लिया था। जब मधुच्छन्दस् इंद्र को कहता है- ' तूने बलकी उस गुफाको खोल दिया, जिस में गौएं बंद पडी थीं '- तब उस का यही अभिप्राय होता है कि, बल गौओं को कैद करनेवाला है, प्रकाश को रोकने वाला है और वह रोका हुआ प्रकाश ही है, जिसे इन्द्र यज्ञ करनेवालों के लिये फिर से ला देता है। खोई हुई या चुराई हुई गौओं को फिर से पा लेने का वर्णन वेद के मन्त्रों में लगातार आया है और इस का अभिप्राय पर्याप्त स्पष्ट हो जायगा, जब कि हम पणियों और अङ्गिरों के कथानक की परीक्षा करना शुरू करेंगे।

एक बार यदि यह अभिप्राय, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है, स्थापित हो जाता है, तो ' गौओं ' के लिये की गई वैदिक प्रार्थनाओं की जो भौतिक व्याख्या की जाती है, वह एकदम हिल जाती है। क्योंकि खोई हुई गौएं, जिन्हें फिर से पा लेने के लिये ऋषि इंद्र का आह्वान करते हैं, वे यदि द्रविड लोगोंद्वारा चुराई गई भौतिक गौएं नहीं हैं, किंतु सूर्य की या ज्योति की चमकती हुई गौएं हैं तो हमारा यह विचार बनाना न्यायसंगत ठहरता है कि, जहां केवल गौओं के लिये ही प्रार्थना है और साथ में कोई विरोधी निर्देश नहीं है, वहां भी यह अलंकार लगता है, वहां भी गौ भौतिक गाय नहीं है। उदाहरण के लिये ऋ० १.४.१,२ × में इद्र के विषय में कहा गया है कि वह पूर्ण रूपों को बनानेवाला है और वह गौओं के दोहने में ऐसा चतुर है कि, उस का सोम-रस से चढनेवाला मद सचमुच गौओंको देनेवाला है, ' गोदा इद् रेवतो मदः। '

निरर्थकता और असंगतताकी हद हो जायगी, यदि इस कथनका यह अर्थ समझा जाय कि, इन्द्र कोई बडा समृद्धिशाली देवता है और जब वह पिये हुए होता है, उस समय गौओं के दान करने में बडा उदार हो जाता है। यह स्पष्ट है कि जैसे पहली ऋचा में गौओं का दोहना एक अलंकार है, वैसे ही दूसरी में गौओं का देना भी अलंकार ही है। और यदि हम वेद के दूसरे सन्दर्भों से यह जान लें कि ' गौ ' प्रकाश का प्रतीक है तो यहां भी हमें अवश्य यही समझना चाहिये कि, इंद्र जब सोम-जनित आनन्द में भरा होता है, तब वह निश्चित ही हमें ज्योतिरूप गौएं देता है।

उषा के सूक्तों में भी, गौएं ज्योति का प्रतीक हैं, यह भाव वैसा ही स्पष्ट है। उषा को सब जगह ' गोमती ' कहा गया है, जिस का स्पष्ट ही अवश्य यही अभिप्राय होना चाहिये कि, वह ज्योतिर्मय या किरणोंवाली है, क्योंकि यह तो बिल्कुल मूर्खतापूर्ण होगा कि, उषा के साथ एक नियत विशेषण के तौर पर ' गौओं से पूर्ण ' यह विशेषण उस के शाब्दिक अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाय। पर गौओं का प्रतीक वहां पर विशेषण में है, क्योंकि उषा केवल ' गोमती ' ही नहीं है, वह ' गोमती अश्वावती ' है, वह हमेशा अपने साथ अपनी गौएं और अपने घोडे रखती है।

' वह सार संसारके लिये ज्योति को रचकर देती है और अन्धकार को, जो गौओं का बाडा है, खोल देती है, १.९२.४ ❀ ' यहां हम देखते हैं कि, बिना किसी भूलचूक की सम्भावना के गौएं ज्योति का प्रतीक ही हैं। हम इस पर भी ध्यान दे सकते हैं कि, इस सूक्त (१.९२) में अश्विनों को कहा गया है कि, वे अपने रथ को उस पथपर

× इस का अनुवाद हम यह भी कर सकते हैं कि, " उसने अपने वज्र (अद्रि) को उस से निकलती हुई चमकों के साथ चारों ओर भेजा " पर यह अर्थ उतना अच्छा और संगत नहीं लगता। पर यदि हम इसे ही मानें, तो भी ' गोभिः ' का अर्थ ' किरणें ' ही होता है, गाय पशु नहीं।

※ सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ।
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब । गोदा इद्रेवतो मदः ॥ १.४.१,२

❀ ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः ॥ १.९२.४

हांक कर नीचे ले आयें, जो ज्योतिर्मय और सुनहरा है- + 'गोमद् हिरण्यवद्'। इस के अतिरिक्त उषा के संबंध में कहा गया है कि, उस के रथ को अरुण गौएं खींचती हैं और कहीं यह भी कहा है कि, अरुण घोडे खींचते हैं।

'वह अरुण गौओंके समूह को अपने रथ में जोतती है- युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम् १ १२४.११ '। यहां 'अरुण किरणों के समूह को' यह दूसरा अर्थ भी स्थूल अलंकार के पीछे स्पष्ट ही रखा हुआ है। उषा का वर्णन इस रूप में हुआ है कि, वह गौओं या किरणों की माता है. 'गवां जनित्री अकृत प्रकेतुम् १ १२४.५- गौओं (किरणों) की माता ने दर्शन (Vision) को रचा है।' और दूसरे स्थान पर उस के कार्य के विषय में कहा है, 'अब दर्शन या बोध उदित हो गया है. जहां पहले कुछ नहीं [असद्] था'। ※ इस से पुनः यह स्पष्ट है कि, 'गौएं' प्रकाश की ही चमकती हुई किरणें हैं। उस की इस रूप में भी स्तुति की गई है कि, वह 'चमकती हुई गौओं का नेतृत्व करनेवाली है [नेत्री गवाम् ७.७६.६], और एक दूसरी ऋचा इस पर पूरा ही प्रकाश डाल देती है, जिस में ये दोनों ही विचार इकट्ठे आ गये हैं, "गौओं की माता, दिनों की नेत्री" (गवां माता नेत्री अह्नाम् ७.७७.२)। अन्तमें, मानो इस अलंकार पर से आवरण को कतई हटा देने के लिये ही, वेद स्वयं हमें कहता है कि, गौएँ प्रकाश की किरणों के लिये एक अलंकार है, "उसकी सुखमय किरणें दिखाई दीं, जैसे छोडी हुई गौएँ" – प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मय· ४,५२.५। और हमारे सामने इससे भी अधिक निर्णयात्मक एक दूसरी ऋचा (७.७९.२) है- "तेरी गौएँ (किरणें) अन्धकार को हटा देती हैं और ज्योति को फैलाती हैं, ' सं ते गावस्तम आवर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति ×।

लेकिन उषा इन प्रकाशमय गौओंद्वारा केवल खींची ही नहीं जाती, वह इन गौओं को यज्ञ करनेवालों के लिये उपहाररूप में देती है। वह इन्द्र की ही भांति, जब सोम के आनन्द में होती है, तो ज्योति को देती है। वसिष्ठके एक सूक्त (७ ७५) में उसका वर्णन इस रूपमें है कि, वह देवों के कार्य में हिस्सा लेती है और उससे वे दृढ स्थान जहां गौएं बन्द पडी हैं, टूट कर खुल जाते हैं और गौएं मनुष्यों को प्राप्त हो जाती हैं। "वह ✳ सच्चे देवोंके साथ सच्ची है, महान् देवो के साथ महान् है, वह दृढ स्थानों को तोड कर खोलती है और प्रकाशमय गौओं को छोड देती है, गौएं उषा के प्रति रँभाती हैं" -रुजद् दृळ्हानि ददद् उस्रियाणाम्, प्रति गाव उषसं वावशन्त ७.७५.७। और ठीक अगली ही ऋचामें उससे प्रार्थना की गई है कि, वह यज्ञकर्ता के लिये आनन्द की उस अवस्था को स्थिर करे या धारण करावे, जो प्रकाश से (गौओं से), अश्वों से (प्राण-शक्ति से) और बहुत से सुख-भोगों से परिपूर्ण हो- "गोमद् रत्नम् अश्वावद् पुरुभोजः।" इसलिये जिन गौओं को उषा देती है, वे गौएं ज्योतिकी ही चमकती हुई सेनायें हैं, जिन्हें देवता और अङ्गिरस ऋषि वल और पणियों के दृढ स्थानों से उद्धार करके लाये हैं। साथ ही गौओं (और अश्वों) की सम्पत्ति जिस के लिये ऋषि लगातार प्रार्थना करते हैं, उसी ज्योति की सम्पत्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती; क्योंकि यह कल्पना असंभवसी है कि. जिन गौओं को देने के लिये इस सूक्त की सातवीं ऋचा में उषा को कहा गया है, वे उन गौओं से भिन्न हों जो ८ वीं में मांगी गई हैं, कि पहले मन्त्र में 'गौ' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश' और अगले में 'गाय,' और यह कि

+ अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद् दस्रा हिरण्यवत्। अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्। [१.९२.१६]

※ वि नूनमुच्छाद् असति प्रकेतुः। [१.१२४.११]

× निस्संदेह इसमें मतभेद हो सकता कि, वेद में गौ का अर्थ प्रकाश है; उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि, 'गवा,' 'गौ' से, प्रकाश से, वृत्र को मारा गया, तो यहां गाय पशुका तो कोई प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न यह है कि, यहां द्व्यर्थक प्रयोग है और गौ यहां प्रतीकरूप है।

✳ सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त॥ [७।७५।७]
नू नो गोमद् वीरवद् धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे। [७।७५।८]

अविमुख से निकालते ही उसी क्षण वह भूल गया कि किस अर्थ में वह शब्द का प्रयोग कर रहा था।

कहीं कहीं ऐसा है कि, प्रार्थना ज्योतिर्मय आनन्द या ज्योतिर्मय समृद्धिके लिये नहीं है, बल्कि प्रकाशमय प्रेरणा या बल के लिये है, 'हे द्यु की पुत्री उषः! तू हमारे अन्दर सूर्य की रश्मियों के साथ प्रकाशमय प्रेरणाको ला'- 'गोमतीरिष आवह दुहितर्दिवः, साकं सूर्यस्य रश्मिभिः' ५.७९.८। सायणने 'गोमतीः इषः' का अर्थ किया है 'चमकता हुआ अन्न' *। परन्तु यह स्पष्ट ही एक निरर्थक सी बात लगती है कि उषा से कहा जाय कि, वह सूर्य की किरणों के साथ किरणों से युक्त अन्नों को लाये। यदि 'इष्' का अर्थ अन्न है, तो हमें इस प्रयोग का अभिप्राय लेना होगा 'गोमांसरूपी अन्न,' परन्तु यद्यपि प्राचीन काल में, जैसा कि, ब्राह्मण--ग्रंथोंसे स्पष्ट है, गो-मांस का खाना निषिद्ध नहीं था, फिर भी उत्तरकालीन हिंदुओं की भावना को चोट पहुंचानेवाला होने से जिस अर्थ को सायणने नहीं लिया है, वह अभिप्रेत ही नहीं है और यह भी वैसा ही भद्दा है, जैसा कि पहला अर्थ है। यह बात ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र से सिद्ध हो जाती है, जिस में अश्विनों का आह्वान किया गया है कि, वे उस प्रकाशमय प्रेरणा को दें जो हमें अंधकार में से पार करा कर उसके दूसरे किनारेपर पहुंचा देती है - 'या नः पीपरद् अश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः; ताम् अस्मे रासाथाम् इषम् १.४६.६'।

इन नमूने के उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि, प्रकाश की गौओं का यह अलंकार कैसा व्यापक है और कैसे अनिवार्य रूप से यह वेदके लिये एक अध्यात्म-परक अर्थ की ओर निर्देश कर रहा है। एक सन्देह फिर भी बीच में आ उपस्थित होता है। हमने माना कि, यह एक अनिवार्य परिणाम है कि 'गौ' प्रकाश के लिये प्रयुक्त हुआ है, पर इससे हम क्यों न समझें कि, इसका सीधा-साधा मतलब दिन के प्रकाश से है, जैसा कि, वेद की भाषा से निकलता प्रतीत होता है? वहां किसी प्रतीक की कल्पना क्यों करें, जहां केवल एक अलंकार ही है? हम इस दुहरे अलंकार की कठिनाई को निमंत्रण क्यों दें, जिस में 'गौ' का अर्थ तो हो 'उषा का प्रकाश' और उषाके प्रकाश को 'आन्तरिक ज्योति' का प्रतीक समझा जाय? यह क्यों न मान लें कि ऋषि आत्मिक ज्योति के लिये नहीं, बल्कि दिन के प्रकाश के लिये प्रार्थना कर रहे थे?

ऐसा मानने पर अनेक प्रकारके आक्षेप आते हैं और उन में कुछ तो बहुत प्रबल हैं। यदि हम यह मानें कि, वैदिक सूक्तों की रचना भारत में हुई थी और यह उषा भारत की उषा है और यह रात्रि वही यहां की दस या बारह घण्टे की छोटीसी रात है, तो हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि, वैदिक ऋषि जंगली थे, अन्धकार के भय से बडे भयभीत रहते थे और समझते थे कि, इस में भूत-प्रेत रहते हैं, वे दिन-रात की परम्परा के प्राकृतिक नियम से- जिस का अब तक बहुत से सूक्तों में बडा सुन्दर चित्र खिंचा मिलता है- भी अनभिज्ञ थे और उनका ऐसा विश्वास था कि, आकाश में जो सूर्य निकलता था और उषा अपनी बहिन रात्रि के आलिङ्गन से छूटकर प्रकट होती थी, यह सब केवल उन की प्रार्थनाओं के कारण से ही होता था। पर फिर भी वे देवोंके कार्यमें अटल नियमों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि, उषा हमेशा शाश्वत सत्य व दिव्य नियम के मार्ग का अनुसरण करती है! हमें यह कल्पना करनी होगी कि, ऋषि जब उल्लास में भरकर पुकार उठता है 'हम अन्धकार को पार करके दूसरे किनारे पहुंच गये हैं!' तो यह केवल दैनिक सूर्योदय पर होने-वाला सामान्य जागना ही है।

जिस की ऋषि ऐसी उत्कण्ठा से स्तुति कर रहा है। हमें यह कल्पना करनी होगी कि, वैदिक लोग उषा निकलने पर यज्ञ के लिये बैठ जाते थे और प्रकाश के लिये प्रार्थना करते थे, जब कि वह पहले से ही निकल चुका होता था। और यदि हम इन सब असंभव कल्पनाओं को मान भी लें, तो आगे हमें यह एक स्पष्ट कथन मिलता है कि, नौ या दस महीने बैठ चुकने के उपरान्त ही यह हो सका कि अङ्गिरस ऋषियों को खोया हुआ प्रकाश और खोया हुआ सूर्य फिर से मिल पाया। और जो पितरों के द्वारा 'ज्योति' के खोजे जाने का कथन लगातार मिलता है, उस का हम क्या अर्थ लगायेंगे।

* गोमतीर्गोभिरुपेतानि इषोऽन्नानि आवह आनय— सायण

" हमारे पितरों ने छिपी हुई ज्योति को ढूँढकर पा लिया, उनके विचारों में जो सत्य था, उसके द्वारा उन्होंने उषा को उत्पन्न किया-- गूळ्हं ज्योति: पितरो अन्वविन्दन्, सत्यमन्त्रा अजनयन् उषसम् ७.७६.४ '। यदि हम किसी भी साहित्य के किसी कविता संग्रह में इस प्रकार का कोई पद्य पावें, तो तुरन्त हम उसे एक मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक रूप दे देंगे, तो फिर वेद के साथ हम दूसरा ही बर्ताव करें, इसमें कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दीखता।

फिर भी यदि हमें वेद के सूक्तों की प्रकृतिवादी ही व्याख्या ही करनी है और कोई नहीं, तो भी यह बिलकुल साफ है कि, वैदिक उषा और रात्रि कम से कम भारत की रात्रि और उषा तो नहीं हो सकतीं। यह केवल उत्तरीय ध्रुव के प्रदेशों में ही हो सकता है कि, इन प्रकृति की घटनाओं के संबध में ऋषियों की जो मनोवृत्ति है और अंगिरसों के विषय में जो बातें कही गई हैं, वे कुछ समझ में आनेलायक बन सकें। प्राचीन वैदिक आर्य उत्तरीय ध्रुव से आये, इस कल्पना (वाद) को क्षणभर के लिये मान लेनेपर भी यद्यपि यह बहुत अधिक सम्भव हो सकता है कि, उत्तरीय ध्रुव की स्मृतियां वेद के बाह्य अर्थ में आ गई हों, फिर भी इस कल्पना से प्रकृति से खींच हुए इन प्राचीन अलंकारों के पीछे जो एक आन्तरिक अर्थ है, उस का निराकरण नहीं हो सकता, नहीं इस के मान लेने से यह सिद्ध हो जाता है कि, उषासंबंधी ऋचाओं की इस की अपेक्षा और अधिक सुसंबद्ध और सीधी किसी दूसरी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

उदाहरण के लिये हमारे सामने अश्विनों को कहा गया प्रस्कण्व काण्वका सूक्त [१ ४६] है, जिस में उस ज्योतिर्मय अन्तःप्रेरणा का संकेत है, जो हमें अन्धकार में से पार करा के परले किनारे पर पहुंचा देती है। इस सूक्त का उषा और रात्रिके वैदिक विचार के साथ घनिष्ठ संबंध है। इस में वेद में नियत रूप से आनेवाले बहुत से अलंकारों का संकेत मिलता है; जैसे ऋत के मार्ग का, नदियों को पार करने का, सूर्य के उदय होने का, उषा और अश्विनों में परस्पर संबंध का, सोम-रस के रहस्यमय प्रभाव का और उसके सामुद्रिक रस का।

" देखो, आकाशमें उषा खिल रही है, जिस से अधिक उच्च और कोई वस्तु नहीं है, जो आनन्द से भरी हुई है। हे अश्विनो ! तुम्हारी मैं महान् स्तुति करता हूं। + (१) तुम जिन की सिंधु माता है, जो कार्य को पूर्ण करनेवाले हो, जो मन में से होते हुए उस पार पहुंचकर ऐश्वर्यों (रयि) को पा लेते हो, जो दिव्य हो और उस ऐश्वर्य (वसु) को विचार के द्वारा पाते हो। (२) हे समुद्र-यात्रा के देवो जो शब्द को मनोमय करनेवाले हो ! यह तुम्हारे विचारों को भंग करनेवाला है- तुम प्रचण्ड रूपसे सोम का पान करो। (५) हे अश्विनो ! हमें वह ज्योतिष्मती अन्तःप्रेरणा दो, जो हमें तमस् से निकाल कर पार पहुंचा दे। (६) हमारे लिये तुम अपनी नावपर बैठकर चलो, जिस से हम मन के विचारों से परे परले पार पहुंच सकें। हे अश्विनो ! तुम अपने रथ को जोतो (७) अपने उस रथ को जो द्युलोक में इस की नदियों को पार करने के लिये एक बडे पतवारवाले जहाज का काम देता है। विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियां जोती गई हैं। (८) जलोंके स्थान पर द्युलोक में आनन्दरूपी सोम-शक्तियां ही वह ऐश्वर्य [वसु] है। पर अपने उस आवरण को तुम कहां रख दोगे, जो तुमने अपने आप को छिपाने के लिये बनाया है ! [९] नहीं, सोम का आनंद लेने के लिये प्रकाश उत्पन्न हो गया है,-- सूर्य ने जो कि, अन्धकारमय था, अपनी जिह्वा को हिरण्य की ओर लपक-

+ एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्। [१।४६।१]
या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥
आदारो वां मतीनां नासत्या मतवचसा। पातं सोमस्य धृष्णुया ॥ ५ ॥
या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम् ॥ ६ ॥
आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम् ॥ ७ ॥
अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥ ८ ॥
दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथः ॥ ९ ॥

पाया है [१०] ऋत का मार्ग प्रकट हो गया है, जिस से हम उस पार पहुंचेंगे; द्यु के बीच का सारा खुला मार्ग दिखलाई पड़ गया है । [११] खोजनेवाला अपने जीवन में अश्विनों के ज्यों ज्यों सोम के आनन्द में तृप्ति-लाभ करते हैं, त्यों त्यों उनके निरन्तर एक के बाद दूसरे आविर्भाव की ओर प्रगति किये जा रहा है । [१२] उस सूर्य में जिस में सब ज्योति ही ज्योति है, तुम निवास करते हुए [या चमकते हुए] सोम-पानके द्वारा, वाणीके द्वारा हमारी मानवीयता में सुख का सर्जन करनेवाले के तौरपर आओ । [१३] तुम्हारी कीर्ति और विजयके अनुरूप उषा हमारे पास आती है, जब तुम हमारे सब लोकों में व्याप्त हो जाते हो और रात्रि में से सत्यों को विजय कर लाते हो । [१४] दोनों मिलकर हे अश्विनो सोम-पान करो, दोनों मिलकर हमारे अन्दर शक्ति को प्राप्त कराओ उन विस्तारों के द्वारा जिन की पूर्णता सदा अविच्छिन्न रहती है । ' [१५]

यह इस सूक्त का सीधा और स्वाभाविक अर्थ है और हमें इस का भाव समझने में कठिनाई नहीं होगी, यदि हम वेद के मूलभूत विचारों और अलङ्कारों को स्मरण रखेंगे । ' रात्रि ' स्पष्ट ही आन्तरिक अन्धकार के लिये आलंकारिक रूप से कहा गया है, उषा के आगमन के द्वारा रात्रि में से ' सत्यों ' को जीतकर हस्तगत किया जाता है । यही उस सूर्य का सत्य के सूर्य का, उदय होना है, जो अन्धकार के बीच में खो गया था- वही खोये हुए सूर्य का हमारा परिचित अलंकार जिस में उसे देवों और ऋषियोंने फिर से पाया है । और अब यह अपनी अग्नि की जिह्वा को स्वर्णिक ज्योति के प्रति- ' हिरण्य ' के प्रति- लपलपाता है ।

सुवर्ण उच्चतर ज्योति का स्थूल प्रतीक है, यह सत्य का सोना है और यही वह निधि है, न कि कोई सोने का सिक्का, जिस के लिये वैदिक ऋषि देवों से प्रार्थना करते हैं । आन्तरिक अन्धकार में से निकाल कर ज्योति में लाने के इस महान् परिवर्तन को अश्वी करते हैं, जो मन की और प्राण-शक्तियों की प्रसन्नतायुक्त ऊर्ध्वगति के देवता हैं, और इसे वे इस प्रकार करते हैं कि, आनन्द का अमृत-रस मन और शरीर में उण्डेला जाता है और वहां वे इस का पान करते हैं । वे व्यंजक शब्द को मनोमय रूप देते हैं, वे हमें विशुद्ध मन के उस स्वर्ग में ले जाते हैं, जो इस अन्धकार से परे है और वहां वे विचार के द्वारा आनन्द की शक्तियों को काम में लाते हैं ।

पर वे द्यु के जलों को भी पार कर के उससे भी ऊपर चले जाते हैं, क्योंकि सोम की शक्ति उन्हें सब मानसिक रचनाओं को तोड डालने में सहायता देती है और वे इस आवरण को भी उतार फकते हैं । वे मन से परे चले जाते हैं और सबसे अन्तिम चीज़ जो वे प्राप्त करते हैं वह ' नदियों का पार करना ' कही गई है, जो कि विशुद्ध मन के द्युलोक में से गुज़रने की यात्रा है, वह यात्रा है, जिस से सत्य के मार्ग पर चल कर परले किनारे पर पहुंचा जाता है और जब तक अन्त में हम उच्चतम पद, परमा परावत् पर नहीं पहुंच जाते तब तक हम इस महान् मानवीय यात्रा से विश्राम नहीं लेते ।

हम देखेंगे कि, न केवल इस सूक्त में बल्कि सब जगह उषा सत्य को लानेवाली के रूप में आती है, स्वयं वह सत्य की ज्योति से जगमगानेवाली है । वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उस की केवल छायामात्र है और प्राकृतिक जगत में उस का प्रतीक है ।

अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः । व्यख्यज्जिह्वयासितः ॥ १० ॥
अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया । अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः ॥ ११ ॥
तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति । मदे सोमस्य पिप्रतोः ॥ १२ ॥
वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा । मनुष्वच्छंभू आ गतम् ॥ १३ ॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत् । ऋता वनथो अक्तुभिः ॥ १४ ॥
उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम् । अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ १५ ॥

दैवत-संहिता के विषय में संमतियाँ।

(१)

प्राध्यापक श्री. हरी दामोदर वेलणकरजी, एम्. ए. कहते हैं-

विभिन्न वैदिक संहिताओं के आलोचनापूर्ण एवं अतीव उपयुक्त संस्करण प्रकाशित करने का अत्यंत प्रशंसनीय कार्य स्वाध्यायमंडलमें चलता ही आ रहा है, पर अब स्वाध्याय-मण्डल के अध्यक्ष के तत्त्वावधान में सम्पादित **दैवत-संहिता** का प्रकाशन इस संस्थाद्वारा हो रहा है। यह दैवत-संहिता कोई स्वतन्त्र वैदिक ग्रंथ नहीं है, अपितु चारों मुख्य संहिताओं से चुनकर किया हुआ संग्रहग्रन्थ है, जिस में सूक्त अलग ढंग से एकत्रित किये हैं, अर्थात् एक ही देवता के सारे सूक्त [अग्नि या इन्द्र के सूक्त] एक ही ग्रन्थ में संग्रहीत कर रखे हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि, दैवतसंहिता कई विभागों में प्रकाशित हो सकती है और हर विभाग किसीएक विशिष्ट देवता के अनेक सूक्तों का संग्रह होगा।

अबतक स्वाध्याय-मंडलने चार विभागों का प्रकाशन किया है, जिन में क्रमशः अग्नि इन्द्र, सोम तथा मरुत् देवता के सूक्त एकत्रित हुए हैं। ऋग्वेद-संहिता में जिस क्रमसे ये देवता के सूक्त पाये जाते हैं, उसी क्रम से हर विभागमें ये दिये गये हैं, और ये सूक्त भी अत्यन्त प्राचीन तथा संख्यामें अधिक हैं-। तदुपरान्त वे सूक्त पाये जाते हैं, जिन में दो देवताओं का आवाहन किया गया है। उसके पश्चात् ऋग्वेद के दसों मण्डलोंमें पाये जानेवाले उस उस विभाग के पुनरुक्त मन्त्रभाग दिये हैं। अन्त में तीन महत्त्वपूर्ण सूचियाँ जोड दी गयी हैं जैसे-

(१) विशिष्ट देवताके सभी मंत्रों में जो उपमाएँ पायी जाती हैं, उन की सूची।

(२) उस विभाग के सभी मंत्रों की सूची और

(३) उस देवताके सभी मंत्रों में जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनकी सूची। इन्द्रदेवता के विभाग में जो इन्द्रके सहचारी देवता हैं, उनके भी विशेषण दिये हैं तथा इन्द्र के विशेषण भी समास के द्वितीय शब्दों की अकारानुक्रमणी के अनुसार दिये हैं।

इस प्रकार की व्यवस्थासे जो लाभ तथा उपयोगिता सिद्ध होती है, वह स्पष्ट ही है, विशेषतया अनुसंधान करने-वाले विद्यार्थी की दृष्टि से देखनेपर। यदि किसी भी वैदिक देवताके सम्बन्ध में रचे गये विभिन्न सूक्त, जो कि संहिताओंमें अलग अलग स्थानों में उपलब्ध होते हैं, एक ही ग्रन्थ में इकट्ठे संगृहीत कर रख दिये जायँ, तो उस देवताका विस्तारपूर्वक अध्ययन करना बहुत सुगम हो जाता है। देवता के स्वरूप एवं विशेषताओं का सतर्कतापूर्वक, सर्वांगीण अध्ययन करने में उपमासूची तथा विशेषणसूची से बडी भारी सहायता मिल सकती है। पण्डित सातवलेकरजीके अथक परिश्रम और तीव्र लगनके कारण हमें सचमुच आश्चर्य प्रतीत होने लगता है क्योंकि युद्धजन्य विषम परिस्थितियों में भी वे इस महत्त्वपूर्ण, अत्यंत उपयुक्त कार्य को बराबर पूर्ण करते जा रहे हैं। इतने अधिक अनुपात में ज्ञातव्य बातोंका संग्रह कर के पंडितजीने उसे विद्वानों के सम्मुख रखा है, जिस से हम आश्चर्यचकीत हुए बिना नहीं रह सकते। विद्वान् तथा सहायकर्ता धनाढ्य लोग हर तरह से पंडितजी के प्रयत्नों को प्रोत्साहन देंगे, तो बडी अच्छी बात होगी।

शास्त्री हॉल — ह० दा० वेलणकर, M. A.
बंबई नं० ४

(२)

डॉ० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर, एम्. ए., पीएच्. डी. पूनासे लिखते हैं—

स्वाध्यायमंडल, औंधके प्रकाशनकार्य से मैं भली भाँति परिचित हूँ। यह संस्था पंडित श्रीपाद दामोदर सातवले-करजीके अत्यन्त सुयोग्य संपादकत्व में वेदों की विभिन्न संहिताओंके सुन्दर संस्करण प्रकाशित कर रही है। संकल्पित ग्यारह या बारह संहिताओंमेंसे पाँच संहिताएं प्रकाशित हो चुकी हैं और अन्य संहिताएँ मुद्रण तथा प्रकाशन की विभिन्न अवस्थाओं में हैं। मैंने इन संस्करणों का उपयोग किया है, अतः मैं इनकी उपयोगिता तथा शुद्धता के बारे में

निस्सन्देह प्रतिपादन कर सकता हूँ। कई अंशोंमें तो मैक्स-मूलर, बेन्फे, वेबर, व्हिटनी, रोथके प्रकाशित पूर्वकालीन तथा पथप्रदर्शक संस्करणों से भी, जो कि अत्यन्त महँगे तथा अब लगभग दुष्प्राप्य भी हो गये हैं, स्वाध्याय-मंडलके प्रकाशित ग्रन्थ अधिक संशोधित और अत्यन्त सस्ते भी हैं।

इस क्षेत्र में पंडितजीने हालमें ही दैवत संहिता का प्रकाशन करना शुरू किया है। यह दैवतसंहिता अर्थात् ही वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में सभी उपलब्ध संहिताओंमें बिखरे हुए मन्त्रों का अत्यन्त उपयुक्त संग्रह ग्रन्थ है। लुडविग महोदयने ऋग्वेद का जो जर्मनभाषा में अनुवाद तैयार कर दिया था, उस में वेदमन्त्रों का बहुत कुछ इस ढंग का संग्रह तथा वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया था, लेकिन वह ऋग्वेदतक ही सीमित था। वेद का समालोचनात्मक अध्ययन करना जो चाहते हों, उनके लिये ऐसे संग्रहग्रन्थ जिन में अत्यन्त उपयुक्त सूचियाँ और परिशिष्ट भी जोड दिये हैं, बडे ही उत्कृष्ट सहायक होंगे। पंडित सातवळेकरजी को बधाई देनी चाहिए कि, उन्होंने निर्धारपूर्वक इस कार्य का आरंभ किया और लगभग एक चौथाई कार्य पूरा कर दिखाया है।

स्वाभाविकतया इन दिनों में आवश्यक मुद्रणोपयोगी कागज को उचित मात्रा में योग्य दर पर प्राप्त करना स्वाध्यायमंडल के लिये जटिल समस्या हो बैठी है। पर चूँकि मन्त्रसंग्रह और सूचियाँ तैयार करने का कार्य बहुत कुछ आगे बढ चुका है, इसलिये अगर केवल धनाभाव से यह कार्य रुक जाय, तो बडी चिंताजनक बात होगी।

मुझे सूचना मिली है कि, प्रकाशनव्यय के लिए पंडित सातवळेकरजीने बंबई विश्वविद्यालयकी सेवामें एक प्रार्थना-पत्र भेजा है। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि, इस कार्य की यथेष्ट सहायता करनी चाहिए और मुझे यों कहने में तनिक भी सन्देह नहीं प्रतीत होता है कि, बंबई विश्वविद्यालय उचित ढंगसे इस प्रशंसनीय और अत्यन्त उपयुक्त कार्य को सहायता दे।

बिल्वकुञ्ज पूना, ४ श्री. कृ. बेलवलकर M. A, Ph. D
१०४२ जुलै २

(३)

दैवत-संहिता को देखकर हमें बहुत प्रसन्नता हुई है। इस संहिता के संकलन से वेद के विषयमें तथा वैदिक देवताओं के स्वरूपनिर्णय करने में वेदप्रेमियों को अपूर्व सहायता मिलेगी। इस विलक्षण सूझ तथा परिश्रमसाध्य संकलन के लिये सब वेदप्रेमी सज्जन चिरकाल तक आपके ऋणी एवं कृतज्ञ रहेंगे। वेद के स्वाध्याय करनेवालों का बहुतसा समय ऐसे ग्रन्थ के अभाव में व्यर्थ जाता था। अब इस संहिता के प्रकाशन से उनका बहुतसा समय बच जायगा, और वे आपको इसके लिये सदा धन्यवाद देंगे। वैदिक साहित्यको सरल, सुबोध, सुप्राप्य तथा सर्वसाधारण के लिये सुगम्य, एवं अल्प मूल्य में प्राप्त, बनाकर आप वेदों की जो सच्ची सेवा कर रहे हैं, वह भारतीय वैदिक वाङ्मय के इतिहास में स्वर्णाक्षरोंसे लिखे जानेयोग्य है। परमात्मा आपको दीर्घायुष्य दें, तथा देर तक सामर्थ्ययुक्त बनावें, ताकि आप वेदों की सेवा उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके प्रकाशनसे दीर्घ काल तक करते रहें।

भवदीय

वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य, गुरुकुल,
कांगडी, जि. सहारनपुर, (युक्त-प्रांत)

(४)

दैवतसंहिता (पूर्वार्ध) प्राप्त हुई। तदर्थ धन्यवाद। आपका दैवतसंहिताका निर्माण करनेका विचार अत्युत्तम है। अब यह कार्यरूप में परिणत होकर हमारे सामने उपस्थित है। यह अतीव लाभदायक है, यह सुस्पष्ट है। जो आनंद देवता के साथ संबंध जुडने का अब आता है, वह आनन्द इससे पूर्व आना संभव न था। मेरी बहुत बहुत बधाई स्वाध्यायमंडल को इस पुण्यकृति पर पहुंचा देवें। अब इस के उत्तरार्ध की उत्कण्ठा तथा प्रतीक्षा है। आशा है परम पिता शीघ्र ही वह भी पूर्ण करेंगे।

जो देवता से संबद्ध होना चाहें, वह इस दैवतसंहिता को मंगवाकर अपने पास रखें, प्रेम से पढें पाठ मात्र भी उनका देवता से संबंध जोड देगा। देवता परमात्मा से लेकर सूक्ष्म जीवजन्तुतक सब कुछ हो सकता है। अपनी मानसिक हार्दिक स्थिति-अनुसार जिस दशामें आप पहुंचना चाहें, वह दैवत-संहिता-पाठ आपको वहीं पहुंचा देगा।

कलियाराम कश्यप M. SC., हंसराज स्कालर,
ठण्डी सडक, लाहौर

(५)

दीनानगर, जि० गुरदासपूर
पंजाब.

दैवतसंहिता के अग्निदेवता, इन्द्रदेवता, मरुत्‌देवता, सोमदेवताको देखा है। ये उत्तम ग्रंथ हैं। स्वाध्यायशीलके लिये ये अत्यन्त उपयोगी हैं। स्वाध्यायमंडलने यह कार्य करके वेदप्रचार में सहायता दी है। प्रत्येक वेदप्रेमी के पास यह दैवतसंहिता होनी चाहिये। पुस्तकके प्रारंभ में भिन्न भिन्न स्थलों के मन्त्र देकर प्रयत्न किया गया है कि, पाठक उस देवताको समझ सकें तथा, विशेषण देकर समझाने का सफल यत्न किया है।

(स्वामी) स्वतंत्रानन्द.

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	५)	।॥)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश काण्ड ,,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	८)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ सन्ध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या ।	॥)	
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
यजु अ ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।-	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इन्द्रशक्तिका विकास	॥	=)
१५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।	।-)
१ वेदपरिचय । भाग १-२	२॥)	॥)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥	१॥)
३ गीता-समीक्षा	≡)	-)
४ वेदोपदेश ।	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग)		
(मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य	१॥)	॥)

४८१ कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त ।
श्येनाँइव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम ॥२॥ [३२५१]

(४८१) कस्यं । ब्रह्माणि । जुजुषुः । युवानः । कः । अध्वरे । मरुतः । आ । ववर्त ।
श्येनान्ऽइव । ध्रजतः । अन्तरिक्षे । केन । महा । मनसा । रीरमाम ॥२॥

४८२ कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था ।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत् ते अस्मे ॥३॥ [३२५२]

(४८२) कुतः । त्वम् । इन्द्र । माहिनः । सन् । एकः । यासि । सत्ऽपते । किम् । ते । इत्था ।
सम् । पृच्छसे । समऽअराणः । शुभानैः । वोचेः । तत् । नः । हरिऽवः । यत् । ते ।
अस्मे इति ॥३॥

अन्वयः— ४८१ युवानः कस्य ब्रह्माणि जुजुषुः ? कः मरुतः अ-ध्वरे आ ववर्त ? अन्तरिक्षे श्येनान्इव ध्रजतः (तान्) केन महा मनसा रीरमाम ? ४८२ (हे) सत् पते इन्द्र ! त्वं माहिनः एक सन् कुतः यासि ? ते इत्था किं ? शुभानैः सं-अराणः सं पृच्छसे, (हे) हरि-व ! यत् ते अस्मे तत् वाच ।

अर्थ-४८१ ये (युवान) वीर युवक इस समय (कस्य ब्रह्माणि जुजुषः) भला किसके स्तोत्र सुनते होंगे? (कः) कौन इस समय (मरुतः) इन वीर मरुतोंको अपने (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञमें (आ ववर्त) आनेके लिए प्रवृत्त करता होगा? (अन्तरिक्षे) आकाशपथमेंसे (श्येनान्इव) बाज पंछी की नाईं (ध्रजतः) वेगपूर्वक जानहारे इन वीरोंको (केन महा मनसा) किस उदार मनोभावसे हम (रीरमाम) भला रममाण कर लें ?

४८२ हे (सत्-पते इन्द्र !) सज्जनोंका पालन करनेहारे इन्द्र ! (त्वं माहिनः) तू महान् होते हुए भी इस भाँति (एकः सन्) अकेलाही (कुतः यासि) किधर भला चला जा रहा है? (ते) तेरा (इत्था) इसी तरह बर्ताव (किं) भला किस लिए है? (शुभानैः) अच्छे कर्म करनेहारे वीरोंके साथ (सं-अराणः) शत्रुदलपर धावा करनेहारा तू (सं पृच्छसे) हमसे कुशल प्रश्न पूछता है। हे (हरि-व !) उत्तम अश्वोंसे युक्त इन्द्र! (यत् ते अस्मे) जो कुछ तुझे हमें बतलाना हो (तत् वाच) वह कह दे।

भावार्थ— ४८१ ये वीर युवकदश में है और वे यज्ञमें जाकर काव्यगायनका श्रवण करते हैं, वीरगाथाओंका गायन सुनते हैं। वे (अपने वायुयानोंमें बैठ) अन्तरिक्षकी राहमेंसे वेगपूर्वक चले जाते है। हमारी चाह है कि वे हमारे इस हिंसारहित कर्ममें पधारें और शुभ कर्मका अवलोकन करके इधरही रममाण हों।

४८२ सज्जनोंका पालनकर्ता इन्द्र अकेला होने परभी कभी एकाध मौकेपर शत्रुसेनापर आक्रमण करने जाता है। प्रायः वह तेजस्वी वीरोंको साथ ले विरोधियोंसे जूझने प्रयाण करता है। प्रथम अपनी आयोजना उनसे कहकर और सबका एकत्रित कर्तव्य निर्धारित करके पश्चात्‌ही वह विद्युत्युद्धप्रणालीका अवलंब करता है, जिसके फलस्वरूप शत्रुसेना तितरबितर हुआ करती है।

टिप्पणी— [४८१] (१) ब्रह्मन् = ज्ञान, स्तोत्र, काव्य, बुद्धि, धन, सूर्य, अन्न। (२) मनस् = मन, विचार, कल्पना, युक्ति हेतु, इच्छा। (३) ध्रज् (गतौ) = जाना, हिलना, हिलाना। (४) अन्तरिक्ष श्येनान् इव = (देखो मरुद्देवताके मंत्र ९१, १५१, ३८९)। [४८२] (१) माहिनः = बडा, प्रसन्नचता, प्रशसनीय। (२) शुभानः = शोभायमान, सुशोभित।

४८३ ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः ।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ ॥४॥ [३२५३]

(४८३) ब्रह्माणि । मे । मतयः । शम् । सुतासः । शुष्मः । इयर्ति । प्रऽभृतः । मे । अद्रिः ।
आ । शासते । प्रति । हर्यन्ति । उक्था । इमा । हरी इति । वहतः । ता । नः ।
अच्छ ॥४॥

४८४ अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः स्वक्षत्रेभिस्तन्वः शुम्भमानाः ।
महोभिरेताँ उप युज्महे न्विन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ ॥५॥ [३२५४]

(४८४) अतः । वयम् । अन्तमेभिः । युजानाः । स्वऽक्षत्रेभिः । तन्वः । शुम्भमानाः ।
महःऽभि । एतान् । उप । युज्महे । नु । इन्द्र । स्वधाम् । अनु । हि । नः । बभूथ ।
॥५॥

अन्वयः – ४८३ मे ब्रह्माणि मतयः सुतासः शं, प्र-भृतः मे शुष्मः अद्रिः इयर्ति, आ शासते, उक्थ प्रति हर्यन्ति, इमा हरी नः ता अच्छ वहत. ।

४८४ अतः वयं अन्तमेभिः स्व-क्षत्रेभिः युजानाः तन्वः शुम्भमानाः महोभिः एतान् नु उप युज्महे, हि (हे) इन्द्र ! नः स्व-धां अनु बभूथ ।

अर्थ— ४८३ (मे) मेरे (ब्रह्माणि) स्तोत्र, मेरे (मतयः) विचार तथा (सुतासः) निचोडे हुए सोम-रस सभी (शं) सुखकारक हों हाथमें (प्र-भृतः) सुदृढ ढंगसे पकडा हुआ (मे) यह मेरा (शुष्मः) शत्रुका शोषण करनेवाला प्रभावी (अद्रिः) वज्र (इयर्ति) शत्रुपर जा गिरता है और इसीलिए सभी लोक (आ शासते) मेरी प्रशंसा करते हैं तथा मेरे (उक्था) काव्योंकाभी (प्रति हर्यन्ति) गायन करते हैं। (इमा हरी) ये दो घोडे (नः) हमें (ता अच्छ) उन यज्ञस्थलोंतक (वहतः) ले चलते हैं।

४८४ (अतः) इसीलिए (वयं) हम (अन्तमेभिः) अपने समीपकी (स्व-क्षत्रेभिः) स्वकीय शूरताओं से (युजानाः) युक्त होकर (तन्वः शुम्भमानाः) शरीर सुशोभित करके इस (महोभिः) सामर्थ्य से पूर्ण (एतान्) कृष्णसारोंको अपने रथोंमें (नु उप युज्महे) जोतते हैं। (हि) क्योंकि हे (इन्द्र!) इन्द्र! (नः स्व धां) हमारी शक्तिका तुझे (अनु बभूथ) अनुभव ही है।

भावार्थ— ४८३ वीरोंके काव्य सुविचारको प्रोत्साहन देते हैं। वीर सैनिक मीठे एवं उत्साहवर्धक सोमरसका पान करें। जिधर वीरकाव्योंका गायन होता हो उधर जनता चली जाय, और उसे सुन ले। वीर अपने समीप ऐसे हथियार रखे कि, जो शत्रुके बलको शुष्क कर डाले तथा उनका विनाशभी कर दे।

४८४ वीर क्षत्रिय अपनी शूरतासे सुहाते हैं। मौका आतेही वे सज्ज होकर शत्रुओंपर धावा करनेके लिए रथोंको तैयार रखते हैं। उनका सेनापति भी उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें कार्य देता है।

टिप्पणी- [४८४] (१) स्व-क्षत्रेभिः= अपने क्षत्रिय वीरोंके साथ, अपने क्षत्रियोचित साधनोंके साथ। (ऋ० १।११९।५ देखो।) इस पदसे स्पष्ट सूचना मिलती है कि, मरुत् क्षत्रियवीरही हैं।

४८५ क्व१ स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।
अहं ह्यु१ग्रस्तविषस्तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः ॥६॥ [३२५५]

(४८५) क्व। स्या। वः। मरुतः। स्वधा। आसीत्। यत्। माम्। एकम्। सम्ऽअधत्त। अहिऽहत्ये।
अहम्। हि। उग्रः। तविषः। तुविष्मान्। विश्वस्य। शत्रोः। अनमम्। वधऽस्नैः ॥६॥

४८६ भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः।
भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद् वशाम ॥ ७॥ [३२५६]

(४८६) भूरि। चकर्थ। युज्येभिः। अस्मे इति। समानेभिः। वृषभ। पौंस्येभिः।
भूरीणि। हि। कृणवाम। शविष्ठ। इन्द्र। क्रत्वा। मरुतः। यत्। वशाम ॥७॥

अन्वयः-४८५ (हे) मरुतः! अहि-हत्ये यत् मां एकं समधत्त स्या वः स्व-धा क्व आसीत्? अहं हि उग्रः तविषः तुविस्-मान् विश्वस्य शत्रोः वध-स्नैः अनमम्।

४८६ (हे) वृषभ! अस्मे युज्येभिः समानेभिः पौंस्येभिः भूरि चकर्थ, (हे) शविष्ठ इन्द्र! (वयं) मरुतः यत् वशाम, क्रत्वा भूरीणि कृणवाम हि।

अर्थ- ४८५ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (अहि-हत्ये) शत्रुको मारते समय (यत्) जो शक्ति (मां एकं) मेरे अकेले के निकट तुम (समधत्त) सब मिलकर एकत्रित कर चुके हो, (स्या) वह (वः) तुम्हारी (स्व-धा) शक्ति अब (क्व आसीत्) भला किधर है? (अहं हि) मैं भी (उग्रः) शूर, (तविषः) बलवान् तथा (तुविस्-मान्) वेगपूर्वक हमले करनेवाला हूँ, अतः (विश्वस्य शत्रोः) सभी शत्रुओंको (वध-स्नैः) वज्रके आघातों से (अनमं) झुका चुका हूँ, उनपर मैं विजयी बन चुका हूँ।

४८६ हे (वृषभ!) बलवान् इन्द्र! (अस्मे) हमारे लिए (युज्येभिः) योग्य एवं (समानेभिः) सदृश (पौंस्येभिः) प्रभावोत्पादक सामर्थ्यों से तू (भूरि चकर्थ) बहुत पराक्रम कर चुका है। हे (शविष्ठ इन्द्र!) बलिष्ठ इन्द्र! (मरुतः) हम वीर मरुत् (यत् वशाम) जिसे चाहते हैं उसे अपने निजी (क्रत्वा) कार्यक्षमता तथा पुरुषार्थ से हम अवश्यही (भूरीणि) अधिक गुण तथा विपुल (कृणवाम हि) करके दिखाते हैं।

भावार्थ— ४८५ वृद्धिंगत होनेवाले शत्रुपर धावा करते समय अपनी सारी शक्ति एकही स्थानमें केन्द्रित करनी चाहिए। संपूर्ण शक्ति एकत्रित कर शत्रुदलपर आक्रमण का सूत्रपात करना ठीक है। अपना बल, वीर्य, तथा शूरता बढाकर समस्त शत्रुओं को परास्त करना चाहिए।

४८६ सेनापति अपनी सामर्थ्य बढाकर अत्यधिक पराक्रम करे और सैनिक भी जो करना हो, उसे अपनी शक्तिसे करके बतलायँ। [यदि सैनिक तथा सेनापति दोनों इस भाँति उत्साही, पुरुषार्थी तथा पराक्रमी हों और यदि वे एक विचारसे प्रेरित हो कर्तव्यकर्म निभाने लगें, तो उनके विजयी होनेमें क्या संशय है?]

टिप्पणी— [४८५] (१) अ-हिः= जिसका बल घटता नहीं हो ऐसा बलिष्ठ शत्रु, वृत्र, निरोधन करनेवाला शत्रु। (२) वध-स्नैः (असनैः) (अस् क्षेपण)= वज्रके आघात, शस्त्रके विभिन्न प्रयोग, अस्त्रप्रयोग।

[४८६] (१) क्रतुः= यज्ञ, बुद्धि, शक्ति, सामर्थ्य, युक्ति, इच्छा, स्वप्रेरणा, योग्यता। (२) युज्य= योग्य, जो ठीक हो।

४८७ वर्धीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान्।
अहमेता मनवे विश्वश्चन्द्राः सुगा अपश्चकर वज्रबाहुः ॥८॥ [३२५७]

(४८७) वर्धीम् । वृत्रम् । मरुतः । इन्द्रियेण । स्वेन । भामेन । तविषः । बभूवान् ।
अहम् । एताः । मनवे । विश्वऽचन्द्राः । सुऽगाः । अपः । चकर । वज्रऽबाहुः ॥८॥

४८८ अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥९॥ [३२५८]

(४८८) अनुत्तम् । आ । ते । मघऽवन् । नकिः । नु । न । त्वाऽवान् । अस्ति । देवता । विदानः ।
न । जायमानः । नशते । न । जातः । यानि । करिष्या । कृणुहि । प्रऽवृद्ध ॥९॥

अन्वयः— ४८७ (हे) मरुतः! स्वेन भामेन इन्द्रियेण तविषः बभूवान्, वज्र-बाहुः अहं वृत्रं वर्धीं, मनवे एताः विश्व-चन्द्राः अपः सु-गाः चकर।

४८८ (हे) मघवन्! ते अन्-उत्तं नकिः नु आ, त्वावान् विदानः देवता न अस्ति, (हे) प्र-वृद्ध! यानि करिष्या कृणुहि न जायमानः न जातः नशते।

अर्थ— ४८७ हे (मरुत !) वीर मरुतो! (स्वेन भामेन इन्द्रियेण) अपने निजी तेजस्वी इन्द्रियों से (तविषः) बलवान् (बभूवान्) हुआ और (वज्र-बाहुः) हाथमें वज्र धारण करनेवाला (अहं) मैं (वृत्रं वधीं) घेरनेवाले शत्रुका वध करके (मनवे) मानवमात्रके लिए एताः। ये (विश्व-चन्द्राः) सबको आल्हाद देनेवाले (अपः) जलौघ सबको (सु-गाः चकर) सुगमतापूर्वक मिलते जायँ, ऐसा प्रबंध कर चुका।

४८८ हे (मघवन्!) इन्द्र! (ते) तुम्हारी (अन्-उत्तं) प्रेरणा के विना (नकिः नु आ) कुछ भी नहीं होने पाता। (त्वावान्) तुम्हारे समकक्ष (विदानः देवता) ज्ञाता देव (न अस्ति) दूसरा कोई विद्यमान नहीं है। हे (प्र-वृद्ध!) अत्यन्त महान् इन्द्र! (यानि करिष्या) जो कर्तव्यकर्म तू (कृणुहि) निभाता है, उन्हें दूसरा कोई भी (न जायमानः [नशते]) जन्म लेनेवाला नहीं कर सकता, अथवा (न जातः नशते) उत्पन्न हुआ पुरुष भी नहीं कर सकता।

भावार्थ— ४८७ अपना इन्द्रियसामर्थ्य बढाकर वीर पुरुष हाथमें हथियार लेकर जलप्रवाहकी स्वच्छन्द गतिमें बाधा डालनेवाले शत्रु का वध करके सभी मानवोंके हितके लिये अत्यावश्यक जीवनोपयोगी जल हरएक को बडी आसानीसे मिल सके, ऐसी व्यवस्था कर दे। [इस भाँतिके लोकहितकारक कार्य करना बलिष्ठ वीरोंका कर्तव्यही है।]

४८८ वीर के लिए अजेय कुछ भी नहीं है। वीर जानकारी प्राप्त करके ज्ञानी बने और वह ऐसे कार्य शुरू कर दे कि, जिन्हे निष्पन्न करना अभी तक असम्भव हुआ हो या आगे चलकर कोई दूसरा कर लेगा, ऐसी संभावना न दीख पडती हो।

टिप्पणी— [४८७] (१) सुगाः अपः= (सु गा) सुगमतापूर्वक मिल सके ऐसे जलप्रवाह, जिसमें खलबली मचती हो, ऐसा प्रवाह।

[४८८] (१) अ नुत्त (नुद् प्रेरणे)= अप्रेरित, अजेय अन्-उत्त= (उद्-उन्द् क्लेदने) जो न भिगोया गया हो, जिसपर आक्रमण न हुआ हो। (२) विदानः (विद् ज्ञाने)= ज्ञानी। (३) प्र-वृद्ध= महान्, बलिष्ठ, अनुभवी।

४८९ एकस्य चिन्मे विभ्वऽस्त्वोजो या नु दधृष्वान् कृणवै मनीषा।
अहं ह्युग्रो मरुतो विदानो यानि च्यवमिन्द्र इदीश एषाम् ॥१०॥ [३२५९]

(४८९) एकस्य । चित् । मे । विऽभु । अस्तु । ओजः । या । नु । दधृष्वान् । कृणवै । मनीषा ।
अहम् । हि । उग्रः । मरुतः । विदानः । यानि । च्यवम् । इन्द्रः । इत् । ईशे । एषाम् ॥१०॥

४९० अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र।
इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः ॥११॥ [३२६०]

(४९०) अमन्दत् । मा । मरुतः । स्तोमः । अत्र । यत् । मे । नरः । श्रुत्यम् । ब्रह्म । चक्र ।
इन्द्राय । वृष्णे । सुऽमखाय । मह्यम् । सख्ये । सखायः । तन्वे । तनूभिः ॥११॥

अन्वयः— ४८९ मे एकस्य चित् ओजः विभु अस्तु या मनीषा दधृष्वान् कृणवै नु, (हे) मरुतः! अहं हि उग्रः विदानः यानि च्यवं एषां इन्द्रः चित् ईशे।

४९० (हे) नरः मरुतः! अत्र स्तोमः मा अमन्दत् यत् मे श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, वृष्णे सु-मखाय मह्यं इन्द्राय, (हे) सखायः! सख्ये तनूभिः तन्वे।

अर्थ— ४८९ (मे एकस्य चित्) मेरे अकेलेकाही (ओजः) सामर्थ्य (विभु अस्तु) प्रभावशाली बनता रहे। (या मनीषा) जो इच्छा मैं (दधृष्वान्) अन्तःकरणमें धारण कर लूँगा, वह (कृणवै नु) सचमुचही पूर्ण करूँगा। हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (अहं हि) मैं तो (उग्रः) शूर तथा (विदानः) ज्ञानी हूँ और (यानि च्यवं) जिनके समीप मैं जाऊँगा (एषां) उनपर (इन्द्रः इत्) इन्द्रकी हैसियतमेंही (ईशे) प्रभुत्व प्रस्थापित कर लूँगा।

४९० हे (नर मरुतः!) नेता वीर मरुत्! (अत्र) यहाँ तुम्हारा (स्तोमः) यह स्तोत्र (मा अमन्दत्) मुझे हर्षित कर रहा है। (यत्) जो यह तुम (मे) मेरा (श्रुत्यं ब्रह्म) यशस्वी स्तोत्र (चक्र) बना चुके हो, वह (वृष्णे) बलवान तथा (सु-मखाय) उत्तम सत्कर्म करनेहारे (मह्यं इन्द्राय) मुझ इन्द्रके लिएही किया है। हे (सखायः!) मित्रो! तुम सचमुच (सख्ये) मेरी मित्रता के लिए अपने (तनूभिः) शरीरों से मेरे (तन्वे) शरीरका संरक्षण करते हो।

भावार्थ— ४८९ वीरके अन्तस्तलमें यह महत्त्वाकांक्षा सदैव जागृत एवं ज्वलन्त रहे कि उसका बल परिणामकारक हो। वह जिस आयोजनाकी रूपरेषा निर्धारित करे, उसे लगनके साथ पूर्ण कर ले। अपना ज्ञान तथा शौर्य वृद्धिंगत करके जिधरभी चला जाय, उधरही प्रमुख तथा अग्रगन्ता बनकर अत्यन्त कर्मण्य बने।

४९० वीरोंके काव्यमें पाये जानेवाले यशोवर्णन को सुनकर वीर सैनिक अतीव प्रसन्न हो उठते हैं। वीरों को वीरोंकी सहायता अवश्य मिलती है।

टिप्पणी— [४८९] (१) विभु = शक्तिमान्, प्रबल, प्रमुख, समर्थ, स्थिर।

४९१ एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम् ॥१२॥ [३२६१]

(४९१) एव । इत् । एते । प्रति । मा । रोचमानाः । अनेद्यः । श्रवः । आ । इषः । दधानाः ।
समऽचक्ष्य । मरुतः । चन्द्रऽवर्णाः । अच्छान्त । मे । छदयाथ । च । नूनम् ॥१२॥

४९२ को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा सखायः।
मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम् ॥१३॥ [३२६२]

(४९२) कः । नु । अत्र । मरुतः । ममहे । वः । प्र । यातन । सखीन् । अच्छ । सखायः ।
मन्मानि । चित्राः । अपिऽवातयन्तः । एषाम् । भूत । नवेदाः । मे । ऋतानाम् ॥१३॥

अन्वयः— ४९१ (हे) चन्द्र-वर्णाः मरुतः! एव इत् रोचमानाः अ-नेद्यः श्रवः इषः आ दधानाः एते मा प्रति सं-चक्ष्य मे नूनं अच्छान्त छदयाथ च।

४९२ (हे) सखायः मरुतः! अत्र कः नु वः ममहे? सखीन् अच्छ प्र यातन, (हे) चित्राः! मन्मानि अपि-वातयन्तः एषां मे ऋतानां नवेदाः भूत।

अर्थ— ४९१ हे (चन्द्र-वर्णाः मरुतः!) चन्द्रमाके तुल्य वर्णवाले वीर मरुतो! (एव इत्) सचमुचही (रोचमानाः) तेजस्वी, (अ-नेद्यः) अनिन्दनीय तथा (श्रवः इषः आ दधानाः) कीर्ति एवं अन्न धारण करनेहारे (एते) ये विख्यात वीर (मा प्रति) मेरी ओर (सं-चक्ष्य) भली भाँति निहारकर अपने यशोंद्वारा (मे नूनं) मुझ सचमुच (अच्छान्त) हर्षित कर चुके, उसी भाँति अब भी (छदयाथ च) प्रसन्न करो।

४९२ हे (सखायः मरुतः!) प्यारे मित्र मरुत्-वीरो! (अत्र) यहाँ (कः नु) भला कौन (वः) तुम्हारा (ममहे) सम्मान कर रहा है? तुम (सखीन् अच्छ) अपने मित्रोंकी ओर (प्र यातन) चले जाओ। हे (चित्रा!) आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले वीरो! तुम (मन्मानि) मननीय धनों के समीप (अपि-वातयन्तः) वेगपूर्वक जाकर पहुँच जानेवाले-श्रेष्ठ धन प्राप्त करनेवाले और (एषां मे ऋतानां) इन मेरे सत्कर्मों के (नवेदाः भूत) जाननेहारे बनो।

भावार्थ— ४९१ वीर मरुतों का वर्ण चन्द्रवत् आल्हाददायक है। वे तेजस्वी हैं और निर्दोष अन्नकी समृद्धि करते हुए निष्कलंक यश पाते हैं। कभी कभी उनका पराक्रम इतना उज्ज्वल रहता है कि उसीके फलस्वरूप वे अपने सेनापति का यश भी अपने यशोंसे ढकसे देते हैं और इसीसे उसे आनंदित भी करते हैं।

४९२ वीरोंका गौरव एवं सम्मान चतुर्दिक् होता रहे। वे अपने मित्रोंके निकट जाकर उनकी रक्षा करें। वे ऐसा पराक्रम कर दिखलाएँ कि जनता अचम्भेमें आ जाय और निर्दोष ढगसे धन कमाकर सरल मार्गोंसेही यशस्विता किस प्रकार पाई जा सकती है, सो भली प्रकार जान ले।

टिप्पणी— [४९१] (१) चन्द्र वर्णाः= चन्द्रमाके तुल्य वर्णवाले, (चन्द्र=सुवर्ण, सुवर्णके रंगसे युक्त।) [मरुद्देवता मंत्र २०९ देखिए। वहाँ 'हिरण्य-वर्णान्' पद उपलब्ध है। ऋ० १।१००।८ में 'श्वित्नेभिः' पदसे मरुतोंके शुभ्र-गौर वर्ण की सूचना मिलती है। साधारणतया ऐसा जान पड़ता है कि वीर-मरुत् गौरपीत दीख पड़ते थे।] (२) अच्छान्त (छद् आच्छादने)= ढक दिया, आनन्द दिया। (३) चक्ष् (व्यक्तायां वाचि)= देखना, बोलना।

[४९२] (१) ऋत = सरल बर्ताव, सत्य, यज्ञ, पवित्र कार्य, प्रिय भाषण, सत्कर्म। (२) नवेदस्= ज्ञानेद्वारा (सायणभाष्य) [मरुद्देवता मंत्र ५५४।८, ७७२ तथा ऋ० १०।३१।१ देखिए।]

४९३ आ यद् दुवस्याद् दुवसे न कारु रस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा ।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छे मा ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत् ॥१४॥ [३२६३]
(४९३) आ । यत् । दुवस्यात् । दुवसे । न । कारुः । अस्मान् । चक्रे । मान्यस्य । मेधा ।
ओ इति । सु । वर्त्त । मरुतः । विप्रम् । अच्छ । इमा । ब्रह्माणि । जरिता । वः ।
अर्चत् ॥१४॥

(ऋ० १।१७१।३-६) [इन्द्रदेवता मंत्र ३२६५-६८]

४९४ स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः ।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ॥३॥ [३२६५]
(४९४) स्तुतासः । नः । मरुतः । मृळयन्तु । उत । स्तुतः । मघऽवा । शम्ऽभविष्ठः ।
ऊर्ध्वा । नः । सन्तु । कोम्या । वनानि । अहानि । विश्वा । मरुतः । जिगीषा
॥३॥

अन्वयः— ४९३ (हे) मरुतः ! दुवस्यात् मान्यस्य कारुः मेधा न दुवसे अस्मान् आ चक्रे, विप्रं अच्छ ओ सु वर्त्त, जरिता वः इमा ब्रह्माणि अर्चत् ।

४९४ स्तुतासः मरुतः नः मृळयन्तु, उत स्तुतः शं-भविष्ठः मघवा, (हे) मरुतः ! नः अहानि कोम्या वनानि सन्तु जिगीषा ऊर्ध्वा ।

अर्थ— ४९३ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! तुम (दुवस्यात्) पूजनीय या संमाननीय हो, अतः (मान्यस्य) मान्य कवि की (कारुः मेधा) कुशल बुद्धि (न) अब तुम्हारा (दुवसे) सत्कार करने के लिए (अस्मान्) हमें (आ चक्रे) सभी प्रकारसे प्रेरणा करती है, इसलिए तुम इस (विप्रं अच्छ) ज्ञानी की ओर (ओ सु वर्त्त) प्रवृत्त हो जाओ- आओ । (जरिता) यह स्तोता-उपासक-(वः इमा ब्रह्माणि) तुम्हारे इन स्तोत्रों-काव्यों-का (अर्चत्) गायन करता आ रहा है ।

४९४ (स्तुतासः मरुतः) सराहना करनेपर ये वीर मरुत् (नः मृळयन्तु) हमें सुख दें; (उत) और (स्तुतः) प्रशंसा करनेपर (शं-भविष्ठः) आनन्द देनेहारा (मघवा) इन्द्र भी हमें सुख दे । हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (नः विश्वा अहानि) हमारे सभी दिन (कोम्या) काम्य, (वनानि) वनराजि के तुल्य आनन्ददायक (सन्तु) हों और हमारी (जिगीषा) विजयकी लालसा (ऊर्ध्वा) उच्च कोटिकी बनी रहे ।

भावार्थ— ४९३ ये वीर सम्माननीय हैं, इसलिए कवियोंकी बुद्धि उनके समुचित वर्णन के लिए सचेष्ट रहा करती है । वीरभी ऐसे कवियोंका आदर करें और उनके काव्योंका श्रवण करें ।

४९४ वीर मरुत् और इन्द्र हमें सुखी बना दें । हमारा प्रत्येक दिन उज्ज्वल, रमणीय तथा सत्कार्य में लगा हुआ होनेके कारण आनन्ददायक हो और हमारी विजयेच्छा अत्यन्त उच्च दर्जेकी हो जाय ।

टिप्पणी— [४९३] (१) [दुवस्यात् (हतोः)= हेत्वर्थे पञ्चमी ।] दुवस्यः= माननीय, पूजनीय । (२) जरिता (जॄ जरते= बुलाना, स्तुति करना)= स्तुति करनेहारा, स्तोता, उपासक ।

[४९४] (१) कोम्य= कमनीय, स्पृहणीय, रमणीय, उज्ज्वल (Polished, lovely) । (२) वन्= सम्मान देना, इच्छा करना, चाहना । वन= इष्ट, इच्छा करनेके योग्य, वन ।

४९५ अस्मादुहं तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृळता नः ॥४॥ [३२६६]

(४९५) अस्मात्। अहम्। तविषात्। ईषमाणः। इन्द्रात्। भिया। मरुतः। रेजमानः।
युष्मभ्यम्। हव्या। निऽशितानि। आसन्। तानि। आरे। चकृम। मृळत। नः।
॥४॥

४९६ येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः ॥५॥ [३२६७]

(४९६) येन। मानासः। चितयन्ते। उस्राः। विऽउष्टिषु। शवसा। शश्वतीनाम्।
सः। नः। मरुत्ऽभिः। वृषभ। श्रवः। धाः। उग्रः। उग्रेभिः। स्थविरः। सहःऽ
दाः ॥५॥

अन्वय.- ४९५ (हे) मरुत. ! अस्मात् तविषात् इन्द्रात् भिया अहं ईषमाणः रेजमानः, युष्मभ्यं हव्या नि-शितानि आसन्, तानि आरे चकृम, नः मृळत।

४९६ मानासः उस्राः येन शवसा शश्वतीनां व्युष्टिषु चितयन्ते, उग्रेभिः मरुद्भिः (हे) वृषभ उग्र! स्थविर. सहो-दाः स नः श्रवः धाः।

अर्थ— ४९५ हे (मरुतः!) वीर मरुतो! (अस्मात् तविषात् इन्द्रात्) इस बलिष्ठ इन्द्रके (भिया) भयसे (अहं) मैं भयभीत होकर (ईषमाण.) दौडने तथा (रेजमानः) कांपने लगा हूँ। (युष्मभ्यं) तुम्हारे लिए (हव्या) हविष्यान्न (नि-शितानि आसन्) भली भाँति तैयार कर रखे थे. पर (तानि) वे उसके भयसे (आरे) दूर (चकृम) कर दिये, वे उसे दिये जा चुके हैं, इसलिए अब (नः मृळत) हमें क्षमा करते हुए सुखी बनाओ।

४९६ (मानास.) माननीय (उस्रा.) सूर्यकिरण (येन शवसा) जिस सामर्थ्य से (शश्वतीनां व्युष्टिषु) शाश्वतिक उष कालों में जनताको (चितयन्ते) जागृत करते है, उसी सामर्थ्य से युक्त और (उग्रेभिः) शूर (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ विद्यमान हे (वृषभ उग्र!) बलवान तथा शूर वीरश्रेष्ठ इन्द्र! (स्थविरः) वयोवृद्ध तथा (सहो दा.) बल देनेवाला (सः) वह तू (न) हमे (श्रवः धाः) कीर्ति तथा अन्न प्रदान कर।

भावार्थ— ४९५ वीरोंका पराक्रम तथा प्रभाव इस भाँति हो कि, परिचित लोगभी उसे निहारकर सहम जायँ, फिर शत्रु यदि डर जाएँ तो उसमें क्या आश्चर्य?

४९६ इन वीरोंकी सहायता से हमे अन्न तथा यश मिले।

टिप्पणी— [४९५] (१) नि-शित (शो तनूकरणे)= तीक्ष्ण किया हुआ, तेज (हथियार)। (२) ईष् (गति-हिंसादर्शनेषु)= जाना, वध करना, देखना।

[४९६] (१) मानः= आदर, सम्मान, परिमाण। (२) चित्= चेतना देना, जागृत करना देखना, निहारना, जानना। (३) उस्र (वस् निवासे)= बैल, गौ, किरण। (४) व्युष्टि=प्रभात, वैभवशालिता, स्तुति, ऐश्वर्य।

४९७ त्वं पा॑हीन्द्र॒ सही॑यसो॒ नॄन् भवा॑ म॒रुद्भि॒रव॑यातहेळाः ।
सु॒प्र॒के॒तेभि॑ः सास॒हिर्दधा॑नो वि॒द्यामे॒षं वृ॒जनं॑ जी॒रदा॑नुम् ॥६॥ [३२६८]
(४९७) त्वम् । पा॒हि । इ॒न्द्र॒ । सही॑यसः । नॄन् । भव॑ । म॒रुत्ऽभि॑ः । अव॑यातऽहेळाः ।
सु॒ऽप्र॒के॒तेभि॑ः । स॒स॒हिः । दधा॑नः । वि॒द्याम॑ । इ॒षम् । वृ॒जन॑म् । जी॒रऽदा॑नुम् ॥६॥

इन्द्रामरुतौ (इन्द्रदेवता मंत्र ३२६९) ।
अंगिरसपुत्र तिरश्ची या मरुत्पुत्र द्युतान ऋषि । (ऋ० ८।९६।१४)

४९८ द्र॒प्सम॑पश्यं॒ विषु॑णे॒ चर॑न्तमुपह्व॒रे न॒द्यो॑ अं॒शुमत्याः॑ ।
नभो॒ न कृ॒ष्णम॑वतस्थि॒वांस॒मिष्या॑मि वो वृषणो॒ युध्य॑ताजौ ॥१४॥ [३२६९]
(४९८) द्र॒प्सम् । अ॒प॒श्य॒म् । विषु॑णे । चर॑न्तम् । उ॒प॒ऽह्व॒रे । न॒द्यः॑ । अं॒शु॒ऽमत्याः॑ ।
नभः॑ । न । कृ॒ष्णम् । अ॒व॒त॒स्थि॒ऽवांस॑म् । इष्या॑मि । वः॒ । वृ॒ष॒णः॒ । युध्य॑त । आ॒जौ ॥१४॥

अन्वयः— ४९७ (हे) इन्द्र ! त्वं सहीयसः नॄन् पाहि, मरुद्भिः अवयात-हेळाः भव, सु-प्रकेतेभिः ससहिः दधानः, (वयं) इषं वृजनं जीर-दानुं विद्याम ।

४९८ अंशुमत्याः नद्यः उपह्वरे विषुणे द्रप्सं चरन्तं, नभः न कृष्णं, अपश्यम्, अवतस्थिवांसं इष्यामि, (हे) वृषणः ! वः आजा युध्यत ।

अर्थ— ४९७ हे (इन्द्र !) इन्द्र ! (त्वं) तू (सहीयसः नॄन्) शत्रुओंका पराभव करने का बल प्राप्त करने वाले हमारे सदृश लोगों की (पाहि) रक्षा कर; (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ हमपर (अवयात-हेळाः) क्रोध न करनेवाला बन और (सु-प्रकेतेभिः) अत्यन्त ज्ञानी वीरों के साथ (ससहिः) शत्रुदलके परास्त करनेकी सामर्थ्य (दधानः) धारण करके हमें (इषं) अन्न, (वृजनं) बल तथा (जीर-दानुं शीघ्र विजयप्राप्ति (विद्याम) प्राप्त हो, ऐसा कर।

४९८ (अंशुमत्याः नद्यः) अंशुमती नामक नदीके समीप (उपह्वरे विषुणे) एकान्त में विद्यमान बीहड स्थानमें (द्रप्सं चरन्तं) शीघ्र गति से घूमनेवाले (नभः न कृष्णं) अंधेरे की नाईं बहुतही काले-कलूटे शत्रुको (अपश्यं) मैं देख चुका। ऐसी उस सुगुप्त जगह (अवतस्थिवांसं) रहनेवाले उस दुश्मन को (इष्यामि) मैं ढूंढ निकालता हूं। हे (वृषणः !) बलवान वीरो ! (वः) तुम उस शत्रुके साथ (आजौ) युद्धभूमि में (युध्यत) लडते रहो।

भावार्थ— ४९७ परमपिता परमात्मा उन लोगोंका परिपालन करता है जो अपनेमें शत्रुदलको परास्त करनेवाले बल का संवर्धन करते हैं। इस कार्यमें ज्ञानी वीरोंकी सहायता उसे बार बार होती है। उनके प्रचण्ड बलके सहारे समूची प्रजा अन्नसमृद्धि तथा बल एवं विजयका लाभ प्राप्त करती है।

४९८ प्रथम शत्रुके निवासस्थान तथा आश्रय आदिकी भली भाँति जानकारी उपलब्ध करनी चाहिए और पश्चात्ही उसपर धावा करना चाहिए।

टिप्पणी— [४९७] (१) प्रकेत (कित् ज्ञाने रोगापनयने च)=ज्ञान, बुद्धि, शोभा। सु-प्रकेत= दर्शनीय, ज्ञानी, रोग दूर हटानेवाला। (२) जीर-दानु= (मरुद्देवता मन्त्र १७२ देखिए।)

[४९८] (१) द्रप्स (द्रु गतौ=दौडना, आक्रमण करना)=दौडनेवाला, आक्रमणकर्ता, सोमबिंदु, सोमरस। (२) विषुण= विभिन्न, परिवर्तनशील, तरह तरह का (३) उपह्वर= एकान्त स्थान, ऊबडखाबड जगह।

मरुतोंके मंत्रोंके ऋषि

और उनकी मंत्रसंख्या ।

	मंत्र-कमाक		कुल मंत्र
१ श्यावाश्व आत्रेय.	२१७-३१७-१०१		
	४२९- १		
	४४९-४५६-	८=	११०
२ अगस्त्यो मैत्रावरुणि.	१५८-१९७- ४०		
	४८०-४९७-	१८=	५८
३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ.	३४५-३९४-		५०
४ कण्वो घौरः	६- ४५-		४०
५ पुनवत्सः काण्वः	४६- ८१-		३६
६ गोतमो राहूगणः	१२३-१५६- ३४		
	४२८-	१=	३५
७ सोभरिः काण्वः	८२-१०७- २६		
	४७४-	१=	२७
८ गृत्समदः शौनकः	१९८ २१३-		१६
९ स्यूमर श्मिर्भार्गव.	४०७-४२२-		१६
१० नोधा गौतमः	१०८-१२२-		१५
११ मेधातिथिः काण्वः	५-	१	
	४६५-४७३-	९	
	४७७-४८९-	३=	१३
१२ बिन्दुः पूतदक्षो वा आङ्गिरसः	३९५-४०६-		१२
१३ बार्हस्पत्यो भरद्वाज.	३३४-३४४-		११

	मंत्र-क्रमांक		कुल मंत्र
१४ अथर्वा	४३४-४३६-	३	
	४५७-४६४-	८=	११
१५ एवयामरुदात्रेयः	३१८-३२६-		९
१६ मृगारः	४४०-४४६-		७
१७ शंयुर्बार्हस्पत्यः	३२७-३३३-		७
१८ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः	१— ४-	४	
	४७५ ४७६-	२=	६
१९ ब्रह्मा	४३०-४३३-		४
२० गाथिनो विश्वामित्रः	२१४ २१६-	३	
	४२४-	१=	४
२१ सप्तर्षय (ऋषयः)	४२५-४२७-		३
[(१) भरद्वाजः, (२) कश्यपः, (३) गोतमः, (४) अत्रिः, (५) विश्वामित्रः, (६) जमदग्निः, (७) वसिष्ठः]			
२२ शन्तातिः	४३७ ४३९-		३
२३ परुच्छेपो दैवोदासिः	१५७-		१
२४ प्रजापतिः	४२३-		१
२५ अङ्गिराः	४४७-		१
२६ वसुश्रुत आत्रेयः	४४८-		१
२७ आङ्गिरस स्तिरश्री, द्युतनो वा मारुतः	४९८-		१
			४९८

मरुतोंका संदर्भ ।

(ऋग्वेदादि वेद-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदादि ग्रंथोंमे आये हुए, परंतु मरुद्देवताके मंत्रसंग्रहमे संगृहीत न किये गये मंत्रोंमें और वाक्योंमे मरुतोंका संदर्भ बतलनेवाला वाक्यांश इस तरह है—

ऋग्वेदसंहिता ।

मंडल सू० मं०

१।२०। ५ **मरुत्वना** इन्द्रेण सं अग्मत । (ऋभव.)
२३।१० **मरुतः** सोमपीतये हवामहे । (विश्वे देवा)
११ **मरुतां** एति धृष्णुया । ”
१२ **मरुतो** मृळयन्तु नः । ”
३१। १ **मरुतो** भ्राजत्-ऋष्टयः अजायन्त । (अग्निः)
४०। १ उप प्र यन्तु **मरुतः** । (ब्रह्मणस्पतिः)
२ **मरुतः** सुवीर्यं आ दधीत । ”
४४।१४ **मरुतः** स्तोमं शृण्वन्तु । (अग्निः)

मंडल सू० मं०

५२। ९ **मरुतः** अनु अमदन । (इन्द्रः)
१५ **मरुतः** आजौ अर्चन् । ”
८०। ४ सृजा **मरुत्वतीरव** । ”
११ **मरुत्वाँ** वृत्रं अवधीत् । ”
८९। ७ **मरुतः** पृश्निमातरः । (विश्वे देवाः)
९०। ४ **मरुतः** चियन्तु । ”
९४।१२ **मरुतां** हेळो अद्भुतः । (अग्निः)
१००।१-१५ **मरुत्वान्** नो भवत्विन्द्र ऊती । (इन्द्रः)

१०१।१-७ **मरुत्वन्तं** सख्याय हवामहे । (इन्द्रः)
८ **मरुत्वः** परमे सधस्थे । ”
९ **मरुद्भिः** मादयस्व । ”
११ **मरुत्स्तोत्रस्य** वृजनस्य गोपाः । ”
१०७। २ **मरुतो मरुद्भिः** शर्म यंसत् । (विश्वे देवाः)
१११। ४ **मरुतः** सोमपीतये हुवे । (ऋभवः)
११४। ६ **मरुतां** उच्यते वचः । (रुद्रः)
९ **मरुतां** सुम्नं रास्व । ”
११ **मरुत्वान्** रुद्रः नः हवं शृणोतु ”
१२२। १ रोदस्योः **मरुतोऽ**स्तोषि । (विश्वे देवाः)
१२८। ५ **मरुतां** न भोज्या । (अग्निः)
१३४। ४ **मरुतः** वक्षणाभ्यः अजनयः । (वायुः)
१३६। ७ **मरुद्भिः** स्वयशसः मंसीमहि । (लिंगोक्ता)
१४२। ९ **मरुत्सु** भारती । (तिस्रो देव्यः)
१२ **मरुत्वते** इन्द्राय हव्यं कर्तन । (स्वाहाकृतयः)
१४३। ५ **मरुता**मिव स्वनः । (अग्निः)
१६१।१४ **मरुतः** दिवा यान्ति । (ऋभवः)
१६२। १ **मरुतः** परिख्यन । (अश्वः)
१६५।१५ **मरुतः** एष वः स्तोमः । (मरुत्वान् इन्द्रः)
१६९। १ **मरुतां** चिकित्वान्"""इन्द्रः । (इन्द्रः)
२ **मरुतां** पृत्सुतिर्हासमाना । ”
३ अम्बं **मरुतो** जुनन्ति । ”
५ **मरुतो** नो मृळयन्तु । ”
७ **मरुतां** आयतां उपब्दिः शृण्वे । ”
८ त्वा **मरुद्भिः** शुरुधः । ”
१७०। २ **मरुतो** भ्रातरः तव । ”
५ इन्द्र ! त्वं **मरुद्भिः** संवदस्व । ”
१७३।१२ **मरुतः** ! गीः वन्दते । ”
१८२। २ धिष्ण्या **मरुत्तमा** । (अश्विनौ)
१८६। ८ **मरुतो** वृद्धसेनाः । (विश्वे देवाः)
२। ३। ३ **मरुतां** शर्धं आ वह । (इळः)
३०। ८ **मरुत्वती** शत्रून् जेषि । (सरस्वती)
३३। १ **मरुतां** सुम्नं एतु । (रुद्रः)
६ **मरुत्वान्** रुद्रः मा उग्रा ममन्द । ”
१३ **मरुतः** ! या वः भेषजा । ”
४१।१५ **मरुद्गणा** ! मम हवं श्रुत । (विश्वे देवाः)
३। ४। ६ **मरुत्वाँ** इन्द्रः । (उषासनक्ता)
१३। ६ **मरुद्वृधः** अग्ने नः शं शोच । (अग्निः)
१४। ४ **मरुतः** सुम्नमर्चन् । ”
१६। २ **मरुतः** वृधं सश्चत । (अग्निः)
२९।१५ **मरुता**मिव प्रयाः । (अग्निः)
३२। ३ इन्द्र ! **मरुतः** ते ओजः अर्चन्ति । ”
४ शर्धो **मरुतः** य आसन् । ”
३५। ७ **मरुत्वते** तुभ्यं हवींषि रात । (इन्द्रः)
९ इन्द्र ! **मरुतः** आ भज । ”
४७। १ **मरुत्वान्** इन्द्रः । ”
२ इन्द्र ! **मरुद्भिः** सोमं पिब । ”
३ इन्द्र ! **मरुतः** आ भज । ”
४ इन्द्र ! **मरुद्भिः** सोम पिब । ”
५ **मरुत्वन्तं** इन्द्रं हुवेम । ”
५०। १ **मरुत्वान्** इन्द्रः । ”
५१। ७ **मरुत्व** इह सोमं पाहि । ”
८ **मरुद्भिः** सोमं पाहि । ”
९ **मरुतः** अमन्दन् । ”
५२। ७ **मरुद्भिः** सोम पिब । ”
५४।१३ **मरुतः** ऋष्टिमन्तः । (विश्वे देवाः)
२० **मरुतः** शर्म यच्छन्तु । ”
६२। २ **मरुद्भिः** मे हवं शृणुतं । (इन्द्रावरुणौ)
३ अस्मे रयिः **मरुतः** । ”
४। १। ३ विश्वभानुषु **मरुत्सु** विदः । (अग्निवरुणौ)
२। ४ **मरुतः** अग्ने वह । (अग्निः)
३। ८ कथा **मरुतां** शर्धाय । ”
२१। ३ **मरुत्वान्** इन्द्रः आ यातु । (इन्द्रः)
२६। ४ **मरुतो** विरस्तु । (श्येनः)
३४। ७ **मरुद्भिः** पाहि । (ऋभवः)
११ **मरुद्भिः** सं मदथ । ”
३९। ४ **मरुतां** भद्रं नाम अमन्महि । (दधिक्राः)
५५। ५ **मरुतां** अवासि । (विश्वे देवाः)
५। ५।११ **मरुद्भ्यः** स्वाहा । (स्वाहाकृतयः)
२६। ९ **मरुतः** सीदन्तु (विश्वे देवाः)
२९। १ **मरुतः** त्वा अर्चन्ति । (इन्द्रः)
२ **मरुतः** इन्द्रं आर्चन् । ”
३ **मरुतो** म सुषुतस्य पेयाः । ”
६ **मरुतः** इन्द्रं अर्चन्ति । ”
३०। ६ **मरुतः** अर्कं अर्चन्ति ”
८ **मरुद्भ्यः** रोदसी चक्रिया इव । ”
३१।१० **मरुतः** ते तविषीं अवर्धन् । ”
३६। ६ श्रुतरथाय **मरुतो** दुवोयाः ।
४१। ५ **मरुतः** रायः दधीत । (विश्वे देवाः)
१६ **मरुतो** अच्छोक्तौ ” ”
४३।१० **मरुतो** वक्षि जातवेदः । ” ”

४५। ४ **मरुतो** यजन्ति। (विश्वे देवाः)
४६। ३ **मरुतः** हुवे। " "
६०। १ **मरुतां** स्तोमं ऋध्याम्। (मरुतः, अग्नामरुतौ वा)
२ **मरुतो** रथेषु तस्थुः। "
३ **मरुतः** यत् क्रीळथ। "
५ **मरुद्भ्यः** सुदुघा पृश्निः। "
६ **मरुतः** दिवि ष्ठ। "
७ **मरुतो** दिवो वहध्वे। "
८ अग्ने! **मरुद्भिः** सोमं पिब।"
६३। ५ **मरुतः** रथं युञ्जते। (मित्रावरुणौ)
६ **मरुतः** सुमायया वसत। "
८३। ६ **मरुतः**! वृष्टिं ररीध्वं। (पर्जन्यः)
६। ३। ८ शर्धो वा यो **मरुतां** ततक्ष। (अग्निः)
११। १ अग्ने! बाधं **मरुतां** न प्रयुक्ति। "
१७।११ **मरुतः** यं वर्धान्। (इन्द्रः)
२१। ९ **मरुत** कृण्वावसे नो अद्य। (विश्वे देवाः)
४०। ५ **मरुद्भिः** पाहि। (इन्द्रः)
४७ ५ धामस्तभ्नाद् वृषभो **मरुत्वान्**। (सोमः)
४७।२८ **मरुतां** अनीकं। (रथः)
४९।११ **मरुतः** आ गन्त। (विश्वे देवाः)
५०। ४ **मरुतो** अह्वाम देवान्। " "
५ श्रुत्वा हवं **मरुतो** यद्ध याथ। " "
५२। २ **मरुतः**! यः नः अतिमन्यते।" "
११ **मरुद्गणः** स्तोत्रं जुषन्त। " "
७। ९। ५ **मरुत** यक्षि। (अग्निः)
१८।२५ **मरुतः** इमं सश्चत। (इन्द्रः)
३१। ८ त्वा **मरुत्वती** परिभुवत्। "
३२।१० यस्य **मरुतः** अविता (रः)। "
३४।२४ अनु विश्वे **मरुतो** जिद्दति। (विश्वे देवाः)
२५ शमन्त्स्य म **मरुतां** उपस्थे। " "
३५। ९ शं नो भवन्तु **मरुतः**। " "
३६। ७ **मरुतः** नो अवन्तु। " "
९ **मरुतः**! अयं वः श्लोकः। " "
३९। ५ **मरुतो** मादयन्तां। " "
४०। ३ सेदुग्रा अस्तु **मरुतः**। " "
४२। ५ **मरुत्सु** यशसं कृधी नः। " "
५१। ३ **मरुतश्च** विश्वे नः पात। (आदित्याः)
८२। ५ **मरुद्भिरुग्रः** शुभमन्य ईयते। (इन्द्रावरुणौ)
९३। ८ **मरुतः** परि ख्यन। (इन्द्राग्नी)
९६। २ सा नो बोध्यवित्री **मरुत्सखा**। (सरस्वती)

८। ३।२१ यं मे दुरिन्द्रो **मरुतः**। (कौरयाणः पाकस्थामा)
१२।१६ **मरुत्सु** मन्दसे। (इन्द्रः)
१३।२८ **मरुत्वती**र्विशो अभि प्रयः।"
१८।२० बृहद्वरूथं **मरुतां**। (आदित्याः)
२१ **मरुतो** यन्त न छर्दिः।"
२५।१० **मरुतः** उरुष्यन्तु। (विश्वे देवाः)
१४ **तन्मरुतः** (वृणीमहे)। (मित्रावरुणौ)
२७। १ ऋचा य मि **मरुतः**। (विश्वे देवाः) [काठ० १०।४६]
३ **मरुत्सु** विश्वमानुषु।" "
५ ऋचा गिरा **मरुतः**।" "
६ अभि प्रिया **मरुतः**।" "
८ आ प्र यात **मरुतः**।" "
३५। ३ **मरुद्भिः** सचा भुवा। (अश्विनौ)
१३ **मरुत्वन्ता** जरितुर्गच्छता हवं। "
३६।१-६ **मरुत्वाँ** इन्द्र सत्पते। (इन्द्रः)
४१। १ **मरुद्भ्यो** अर्च। (वरुणः)
४६। ४ यं **मरुतः** पान्ति। (इन्द्रः)
१७ **मरुतां** इयक्षसि। "
५४। ३ शृण्वन्तु **मरुतो** हवं। (विश्वे देवाः)
६३।१० स्याम **मरुतो** वृधे। (इन्द्रः)
७६। १ **मरुत्वन्तं** न वृञ्जसे। (इन्द्रः)
२-३ इन्द्रो **मरुत्सखा**। "
४ **मरुत्वता** इन्द्रेण जितं। "
५-६ **मरुत्वन्तं** इन्द्रं हव महे। "
७ **मरुत्वाँ** इन्द्रः। "
८ **मरुत्वते** हूयन्ते। "
९ **मरुत्सखा** इन्द्र पिब। "
८३। ७ इता **मरुतो** अश्विना। (विश्वे देवाः)
८९। १ **मरुतः**! इन्द्राय गायत। (इन्द्रः)
२ **मरुद्गण**! देवास्ते सख्याय येमिरे।"
३ **मरुतो** ब्रह्मार्चत। "
९६। ७ **मरुद्भि**रिन्द्र सख्यं ते अस्तु।"
८ **मरुतो** वावृधानाः। "
९ तिग्मायुधं **मरुता**मनीकं। "
९। २५। १ **मरुद्भ्यो** वायवे मदः। (पवमानः सोमः)
३३। ३ **मरुद्भ्यः** सोमा अर्षन्ति। " "
३४। २ **मरुद्भ्यः** सोमो अर्षति। " "
५१। ३ **मरुतः** मघोर्व्यश्नते। " "
६१।१२ **मरुद्भ्यः** परि स्रव। " "
६४।२२ **मरुत्वते** इन्द्राय पवस्व। " "

२४ **मरुतः** पवमानस्य पिबन्ति । (पवमानः सोमः)
६५।१० **मरुत्वते** पवस्व । ,, ,,
२० **मरुद्भ्यः** सोमो अर्षसि । ,, ,,
६६।२६ हरिश्चन्द्रो **मरुद्गणः** । ,, ,,
७०। ६ **मरुतामिव** स्वनः नानददेति । ,, ,,
८१। ४ **मरुतः** नः आ गच्छन्तु । ,, ,,
९६।१७ **मरुतः** बर्हिं शुम्भन्ति । ,, ,,
१०७।१७ **मरुत्वते** सोमः सुतः । ,, ,,
२५ **मरुत्वन्तो** मत्सराः । ,, ,,
१०८।१४ यस्य **मरुतः** पिबात । ,, ,,
१०। १३। ५ **मरुत्वते** सप्त क्षरन्ति । (हविर्धाने)
३६। १ **मरुतः** हुवे । (विश्वे देवाः)
४ **मरुतां** शर्म अशीमहि । ,, ,,
३७। ६ **मरुतो** हवं शृण्वन्तु । (सूर्यः)
५२। २ **मरुतो** मा जुनन्ति । (विश्वे देवाः)
६३। ९ **मरुतः** स्वस्तये हवामहे । ,, ,,
१४ **मरुतो** यं अवथ । ,, ,,
१५ **मरुतो** राये दधातन । ,, ,,
६४।११ **मरुतां** भद्रा उपस्तुतिः । ,, ,,
१२ **मरुतः** मेधिरं अददात । ,, ,,
१३ **मरुतो** जुबोधथ । ,, ,,
६५। १ **मरुतः** महिमानमीरयन् । ,, ,,
६६। २ **मरुद्गणे** मन्म धीमहि । ,, ,,
४ **मरुतः** अवरो हवामहे । ,, ,,
७०।११ अग्ने ! अन्तरिक्षात् **मरुतः** आ वह । (स्वाहाकृतयः)
७३। १ **मरुतः** इन्द्रं अवर्धन् । (इन्द्रः)
७५। ५ असिक्न्या **मरुद्वृधे** । (नद्यः)
७६। १ **मरुतो** रोदसी अनक्तन । (ग्रावाणः)
८४। १ धृषिता **मरुत्वः** । (मन्युः)
८६। ९ **मरुत्सखा** इन्द्रः । (इन्द्रः)
९२। ६ **मरुतो** विश्वकृष्टयः । (विश्वे देवा)
११ **मरुतो** विष्णुरहिरे । ,, ,,
९३। ४ **मरुतः** । (विश्वे देवाः)
१०३। ८ **मरुतो** यन्तु अग्रं । (इन्द्रः)
९ **मरुतां** शर्धः उदस्थात् । ,,
११३। ३ **मरुतः** इन्द्रियं अवर्धन् । ,,
१२२। ५ **मरुतः** त्वां मर्जयन् । (अग्निः)
१२६। ५ **मरुद्भी** रुद्रं हुवेम । (विश्वे देवाः)
१२८। २ **मरुतः** विहवे सन्तु । ,, ,,
१३७। ५ त्रायतां **मरुतां** गणः ,, ,,

१५७। ३ **मरुद्भिः** इन्द्रः अस्माकं अविता भूतु । (विश्वे देवाः)

(२) सामवेदसंहिता ।

४४५ अर्चन्त्यर्कं **मरुतः** स्वर्काः । (इन्द्रः)

(३) अथर्ववेदसंहिता ।

कां० सू० मन्त्र.
१। १२। ६ अतीव यो **मरुतो** मन्यते नो ब्रह्म । (मरुतः)
२९। ४ **मरुद्भिरुग्रः** प्रहितो न आगन् । (द्यावापृथिवी, विश्वे देवाः, मरुतः, अपः ।)
५ विश्वे देवा **मरुत** ऊर्जमापः [धत्त] ”
३। ३। १ युञ्जन्तु त्वा **मरुतो** विश्ववेदसः (अग्निः)
४। ४ विश्वे देवा **मरुतस्त्वा** ह्वयन्तु । (अश्विनौ)
१२। ४ उक्षन्तूद्रा **मरुतो** घृतेन । (वास्तोष्पतिः)
१७। ९ विश्वैर्देवैरनुमता **मरुद्भिः** । (सीता)
१९। ६ देवा इन्द्रज्येष्ठा **मरुतो** यन्तु सेनया । (विश्वे- देवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः ।)
४। ११। ४ पर्जन्यो धारा **मरुत** ऊधो अस्य (अनड्वान्)
१५।१५ वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत । (पितरः)
५। ३। ३ इन्द्रवन्तो **मरुतो** मम विहवे सन्तु । (देवाः)
२४।११ **मरुतां** पिता पशूनामधिपतिः । (मरुतां पिता)
६। ३। १ पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु **मरुतः** । (इन्द्रा- पूषणौ, अदितिः, मरुतः इत्यादयः ।)
४। २ अदितिः पान्तु **मरुतः** । (अदितिः, मरुतः इत्यादयः ।)
३०। १ कीनाशा आसन् **मरुतः** सुदानवः । (शमी)
४७। २ विश्वे देवा **मरुत** इन्द्रो अस्मान् न जहुः । (विश्वे देवाः)
७४। ३ **मरुद्भिरुग्रा** अहृणीयमानाः । (सांमनस्यम्)
९२। १ युञ्जन्तु त्वा **मरुतो** विश्ववेदसः । (इन्द्रः)
९३। ३ विश्वे देवा **मरुतो** विश्ववेदसः यूयं तत् नो त्रायध्वम् । (विश्वे देवाः, मरुतः ।)
१०४। ३ इन्द्रो **मरुत्वान्** आदानममित्रेभ्यः कृणोतु नः । (इन्द्राग्नी, सोम इन्द्रश्च ।)
१२२। ५ इन्द्रो **मरुत्वान्** स ददातु तन्मे । (विश्वकर्मा)
१२५। ३ इन्द्रस्यौजो **मरुतामनीकम्** । (वनस्पतिः)
१३०। ४ उन्मादयत **मरुत** उदन्तरिक्ष मादय । (स्मरः)
७। २५। १ विश्वे देवा **मरुतो** यत् स्वर्काः [अक्षनन्] । (सविता)
३४। २ सं मा सिञ्चन्तु **मरुतः** [प्रजया धनेन] । (दीर्घायुः)
५१। ३ प्रदक्षिणं **मरुतां** स्तोममृध्याम् । (इन्द्रः)

५९। २ सप्त क्षरन्ति शिशवे **मरुत्वते** । (सरस्वती)
१०३। १ समिन्द्रेण वसुना सं **मरुद्भिः**। (इन्द्रः,विश्वे देवाः)
८। १। २ उदेनं **मरुतो** देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये। (आयुः)
९। १। ३ **मरुता**मुग्रा नप्तिः । (मधु, अश्विनौ)
१।१० ,, ,, ,, ,, ,,
४। ८ अश्विनोरंसौ **मरुता**मियं ककुत् । (ऋषभः)
१२। ३ [६। पर्यायः ६] विद्युज्जिह्वा **मरुतो** दन्ताः। (गौः)
१०। ९। ८ उत्तरं **मरुत**स्त्वा गोप्स्यन्ति । (शतौदना)
१० आदित्यं **मरुतो** दिशः आप्नोति। (,,)
११। १।२७ इन्द्रो **मरुत्वान्त्स** ददादिदं मे । (ओदनः)
३३ अग्निर्मे गोप्ता **मरुत**श्च सर्वे । ,,
९(११)।१५ ईशां वो **मरुतो** देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
(अर्बुदिः)
१२। ३।२४ इन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो **मरुत्वान्**। (स्वर्गः,ओदनः अग्निः)
१३। ३।२३ किमन्याऽर्चन्**मरुतः** पृश्निमातरः।
(रोहितादित्यौ)
४। ८ तस्यैष **मारुतो** गणः स एति शिक्याकृतः ।
(रोहित,दित्यौ)
१४। १।३३ अग्नै वः पूषा **मरुत**श्च सर्वे सविता सुवाति ।
(आत्मा)
५४ बृहस्पति**र्मरुतो** ब्रह्म सोम इमां वर्धयन्तु (,,)
१५।१४। १ **मारुतं** शर्धो भूत्वानुऽव्यचलत् । (व्रात्यः)
१८। २।२२ उत त्वा वहन्तु **मरुत** उदवाहा उदप्रुतः।
(यमः)
३।२५ इन्द्रो मा **मरुत्वान्** प्राच्या दिशः पातु (,,)
१९।१०। ९ शं नो भवन्तु **मरुतः** स्वर्काः । (बहुदेवता)
१३। ९ देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां **मरुतो** यन्तु
मध्ये । (इन्द्रः)
१० **मरुतां** शर्धमुग्रम् । (इन्द्रः) [काठ० १८।५३;
ऋ०१०।१०३।९]
१७। ८ इन्द्रो मा **मरुत्वाने**तस्या दिशः पातु। (इन्द्र.)
१८। ८ इन्द्रं ते **मरुत्वन्त**मृच्छन्तु । (इन्द्रः)
४५।१० **मरुतो** मा गणैरवन्तु । (आञ्जनं, मरुतः।)
२०। २। १ **मरुतः** पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोम पिबतु।
(मरुतः)
६३। २ इन्द्रः सगणो **मरुद्भि**रस्माकं भूत्ववि‍ता। (इन्द्रः)
१०६। ३ त्वां शर्धो मदत्यनु **मारुतम्** । (इन्द्रः)
१११। १ यद्दा **मरुत्सु** मन्दसे समिन्दुभिः (,,)
१२६। ९ **मरुत्सखा** विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (,,)

(४) वा० यजुर्वेदसंहिता ।

अ०कं०
२।१६ **मरुतां** पृषतीः गच्छ। (प्रस्तरः)
[काठ. १।४५;३।१;३१।११]
२२ सम दित्यैर्वसुभिः सं **मरुद्भिः**। (इन्द्रादयः)
३।४६ हविष्मतो **मरुतो** वन्दते गीः । (इन्द्रामरुतौ)
[श. २।५।२।२८]
६।१६ ऊर्ध्वनभसं **मारुतं** गच्छतम्। (रक्षः)
७।३५ इन्द्र **मरुत्व** इह पाहि। (इन्द्रामरुतौ)
[काठ. ४।३६; श. ४।३।३।१३]
७।३६ **मरुत्वन्तं** वृषभं वावृधानं इन्द्रं हुवेम।
(मरुत्वान्) [काठ. ४।४०]
३७ सजोषा इन्द्र सगणो **मरुद्भिः** सोमं पिब।
(इन्द्रामरुतौ)
३८ **मरुत्वाँ** इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोमम्।
(इन्द्रामरुतौ) [काठ. ४।३८]
८।५५ इन्द्रश्च **मरुतश्च** क्रयायोपोत्थितः। (इन्द्रादयः)
९। ८ युञ्जन्तु त्वा **मरुतो** विश्ववेदसः। (अश्वः)
३२ **मरुतः** सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान पशूनुदजयन् ।
(पूषादयः) [काठ. १४।२४]
३५ **मरुन्नेत्रेभ्यः** वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा ।
(पृथिवी)
३६ **मरुन्नेत्रा** वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा। (देवाः)
१०।२१ **मरुतां** प्रसवेन जय। (रथादयः)
२३ **मरुता**मोजसे स्वाहा। (अग्न्यादयः)
१२।७० विश्वैर्देवैरनुमता **मरुद्भिः** । (सीता)
[काठ. १६।१४९; तै. आ. ४।४।१]
१४।२० **मरुतो** देवता। इन्द्राग्नि, विश्वकर्मादयः)
२५ **मरुता**माधिपत्यं (असि)। (ऋषयः,इष्टकाः)
[काठ. २१।२]
१५।१२ **मरुत्वतीयं** उक्थं अव्यथायै स्तभ्नातु।(इष्टकाः)
१३ **मरुत**स्ते देवा अधिपतयः । (,,)
१७। १ ता न इषमूर्जं धत्त **मरुतः**। (मरुतः)
[काठ. १७।६१]
१८।१७ **मरुत**श्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (अग्निः)
२० **मरुत्वतीया**श्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (,,)
३१ विश्वे अद्य **मरुतो** विश्व ऊती आगमन्तु ।
(विश्वे देवाः) [काठ. १८।६५; ऋ. १०।३५।१३]
४५ मारुतोऽसि **मरुतां** गणः। (वायुः)[काठ.१८।७५]

२०।३० बृहदिन्द्राय गायत **मरुतो** वृत्रहन्तमम् ।(इन्द्रः)
२१।१९ सरस्वती भारती **मरुतो** विशः वयः दधुः ।
(तिस्रो देव्यः)
२७ **मरुतः** स्सुताः इन्द्रे वयः दधुः । (इन्द्र, मरुतः)
२२।२८ **मरुद्भ्यः** स्वाहा । (मरुतः)
२३।४१ अहोरात्राणि **मरुतो** विलिष्टं सूदयन्तु ते ।
(अश्वः)
२४। ४ पृश्निः तिरश्चीनपृश्निः ऊर्ध्वपृश्निः ते **मारुताः** ।
(प्रजापत्यादयः)
१६ सान्तपनेभ्यः **मरुद्भ्यः**, गृहमेधिभ्यः, **मरुद्भ्यः**, क्रीडिभ्यः **मरुद्भ्यः**, स्वतवद्भ्यः **मरुद्भ्यः** प्रथमजानालभते । (प्रजापत्यादयः)
२५। ४ **मरुतां** सप्तमी । (शादादयः)
६ **मरुतां** स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा ।
(शादादयः)
२४ इन्द्रः ऋभुक्षा **मरुतः** परिख्यन् । (अश्वः)
४६ आदित्यैरिन्द्रः सगणो **मरुद्भिरस्मभ्यं** भेषजा करत् । (विश्वे देवाः)
२६।१७ स नः इन्द्राय **मरुद्भ्यः** परि स्रव । (सोमः)
२९।५४ इन्द्रस्य वज्रो **मरुतामनीकम्** । (रथः)
५८ **मारुतः** कल्माषः । (पशव)
३०। ५ क्षत्राय राजन्यं **मरुद्भ्यो** वैश्यम् । (सविता)
३३।४५ आदित्यान्**मारुतं** गणम् (आह्वयामि) ।
(विश्वे देवाः)
४७ इता **मरुतो** अश्विना । ,,
४८ शर्धः प्रयन्त **मारुतोत** विष्णो । ,,
४९ **मरुत** ऊतये हुवे । ,,
६३ पिबेन्द्र सोमं सगणो **मरुद्भिः** । (इन्द्रः)
तै. आ. १।२७।१
६४ अवर्धन्निन्द्रं **मरुतश्चिदत्र** । (इन्द्रः)
[काठ. ४।३४]
९५ देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो **मरुद्गण** । (इन्द्रः)
९६ प्र व इन्द्राय बृहते **मरुतो** ब्रह्मार्चत । (इन्द्रः)
३४।१२ तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त **मरुतो** भ्राजदृष्टयः । (अग्निः)
५६ उप प्र यन्तु **मरुतः** सुदानवः । (ब्रह्मणस्पतिः)
[काठ. १०।४७]
३७।१३ स्वाहा **मरुद्भिः** परि श्रीयस्व । (घर्मः)

तै.आ. ४।५।५,५।४।९
३९। ५ **मारुतः** क्रथन् । (प्रायश्चित्तदेवताः)
६ **मरुतः** सप्तमे अहन् । (सवित्रादयः)
९ बलेन **मरुतः** । (प्रजापतिः)

(५) काठक संहिता ।

शं नः शोचा **मरुद्वृधो**ऽग्ने । काठ २।९७
मरुतः स्तनयित्नुना हृदयमाच्छिन्दन् । काठ ८।५
इन्द्रस्य त्वा **मरुत्वतो** व्रतेनादधे । काठ. ८।८
मारुत्यामिक्षा वारुण्यामिक्षा काय एककपालः । काठ. ९।८
मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः प्रातस्सप्तकपालः । काठ. ९।१६; श. २।५।३।२०
अग्निभि**र्मरुतः** । काठ. ९।३८
मरुतो यद्ध वो दिवो यूयमस्मानिन्द्रं वः । काठ ९।६८
सर्यानित्वाय **मारुतं** प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेत् । काठ. १०।१८
पृश्न्या वै **मरुतो** जाताः वाचो वाश्या वा ,,
पृथिव्या **मारुताः**सजाता एतन्**मरुतां** स्वं पयः । ,,
क्षत्रं वा इन्द्रो विण्**मरुतः** क्षत्रायैव विशमनु नियुनक्ति१०।१९
मारुतस्य मारुतीमनूच्यैन्द्र्या यजेत् । ,,
विड्वै **मरुतो** भागधेयेनैवैनाञ्छमयति । ,,
अगस्त्यो वै **मरुद्भ्यः**शतमुक्ष्णः पृश्नीन् प्रौक्षत् ।
तानिन्द्रायालभत तं **मरुतः** क्रुद्धा वज्रमुद्यत्याभ्यपतन् । ,,
इन्द्रो **मरुद्भिः**ऋतुथा कृणोतु ।काठ १०।३६
मारुतं चरुं निर्वपेत् । काठ. ११।१
इन्द्रो **मरुद्भिः** (उत्क्रामत्) । कठ ११।५, २४।२३
इन्द्राय **मरुत्वते** एकादशकपालम् । काठ. ,,
तस्य **मारुती** याज्यानुवाक्ये स्याताम् कठ. ११।६
उप प्रेत **मरुतः** स्वतवसः । कठ. ११।११; २०।४७
मरुतां प्राणस्त ते प्राणं ददतु । कठ. ११।१३
इन्द्रेण दत्तं प्रयतं **मरुद्भिः** । काठ. ११।१४
मारुतं चरुं सौर्यमेककपालम् । काठ. ११।३१
रमयता **मरुतः**श्येनमायिनम् । काठ. ११।५७
वैराजं **मरुतां** शक्वरी । काठ. १२।१४
ऐन्द्रा**मारुतं** पृश्निसक्थमालभेत । काठ. १३।७
मरुतां पितरुत तद् गृणीमः । काठ. १३।२८
मरुतः सप्ताक्षरया शक्वरीमुदजयन् । काठ. १४।२४
,, ,, उष्णिहमुदजयन् । १४।२५

ये देवा **मरुन्नेत्रा:** । कठ १५।३

मरुद्भ्यः पश्चात्सद्भ्यो रक्षोहभ्यः स्वाहा । ,,

मरुतामोजस्य । काठ. १५।८

मरुतो देवना विट् । काठ १५।६

मरुतो देवत। । काठ १७।११, ३९।४५,

मरुत्वतीयमुक्थमव्यथाय स्तभ्नातु । काठ. १७।११

मरुतस्ते देवा अधिपतयः । काठ. ,, श. ८।६।१।८

अग्निमारुते उक्थे अव्यथाय । काठ. ,, ,,

आदित्या अश्व **मरुतो**ऽश्वम् । कठ. २१।२, श. ४।३।३।१२

यद्वैश्वानरं **मारुता** अनुहृयन्त । काठ. २१।३३

उपांशु **मारुता**ञ्जुहोति । ,, ,,

गणश एव **मरुतस्**तर्पयति । ,, ,,

क्षत्रं वा एष **मरुतां** विट् । २१।३४

याचिनोति दीपयति **मरुन्नामैः** ,, ,,

शुचिं नु स्तोमं **मरुतो** यद्ध वो दिवः । काठ २१।४४, ऋ ८।७।११

सवितुर्**मरुतां** ते तेऽधिपतयः । काठ २२।१६

यत् प्रायणीयं **मरुतां** देवविश देवविशम् । काठ २३।१०

यन्**मरुत्व**शाज्याय: पदं भवति । ,,

स्वस्ति र ये **मरुतो** दधातन । ,,

मरुत्सु विश्वभानुषु । काठ २६।३७

इन्द्रो वृत्रमहन् **मरुद्भिर्**वीर्येण **मरुत्वतीये** स्तोत्रे भवति

मरुत्वतीयमुक्थं **मरुत्वतीया** ग्रह: । काठ. २८।६

प्रतिहतिरेव प्रथमो **मरुत्वतीयो**ऽपयतिः । ,,

वज्रमेव प्रथमेन **मरुत्वतीयेन** च्छयते ,,

तृतीयेन यं द्विष्यादमरुत्वती**यॉ**स्तस्य गृह्णीयात् । ,,

वीर्यं वै **मरुतो** वीर्येणैवैनं वर्धयन्ति । ,,

स **मरुत्वती**येरेव वृत्रमहॅस्तस्मान्**मरुत्वते**ऽनूक्ते न देयम् । काठ. २८।६

बलं वै **मरुतः** । कठ २९।२४

मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति । काठ. ११।३१

मरुतः द्वितं ये सवने न जहयुः । काठ. ३०।२७

ये निर्वा एष प्रजानां तं **मरुतो**ऽभ्यक्रामयन्ता । काठ ३६।२

सप्त हि **मरुतो** निरपत्या एव **मारुतो**ऽथो ग्राम्यमेवैतेनाद्यमवरुन्धे । काठ. ३६।२, ३७।४-६

तस्य **मरुतो** हव्यं व्यमथ्नत । कठ. ३६।९

मरुद्भिर्वैश्वामित्रानीकेन स वृत्रमभ्यातिष्ठत् । काठ. ३६।१५

तं **मरुत** ऐष कैर्वातिरथैरध्यैयन्त । काठ. ३६।१५

स एतं **मरुद्भ्यो** भागं निरवपत् तं **मरुतो** वीर्यांय समतपन् । (काठ. ३६।१५)

ते **मरुद्भ्यो** गृहमेधिभ्ये ऽजुहुवुः । काठ. ३६।६; श. २५।३।४,९

तं **मरुतः** परिक्रीडन्त । काठ. ३६।१८

ते **मरुतः** क्रीडीन् क्रीडतोऽपश्यन् । ,, ,,

तं **मरुतो**ऽभ्यक्रीडन् । ३६।१९

मारुती पृश्निर्वशा । काठ ३७४

अथैष **मारुत** एकविंशतिकपालः । काठ ३७।६,८

त्रिणवे **मरुतस्**स्तुतम् । काठ ३८।१२६

अजुषन्त **मरुतो** यज्ञमेतम् । काठ ४०।९८

(६) ब्राह्मण-ग्रन्थ ।

मरुतो रश्मयः । ताण्ड्य १४।१२।९

ये त **मारुता**: (पुरोडाशाः) रश्मयस्ते । श० ९।३ १।२५

युञ्जन्तु त्वा **मरुतो** विश्ववेदस इति युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवतदाह (**मरुतः** = देवाः— अमरकोषे ३।३ ५८) श० ५।१।४।९

गणशो हि **मरुतः** । ता १९।१४।२

मरुतो गणाना पतयः । तै. ३।११।४।२

सप्त हि **मारुतो** गणः । श० ५।४।३।१७

सप्त गणा वै **मरुतः** । तै. १।६।२।३; २।७।२।२

सप्तसप्त हि **मारुता** गणः। श०९।३।१।२५[क ठ०२१।१०]

मारुतः सप्तकपालः (पुरोडाशः) । ता २१।१०।२३ [कठ ९।४, २१।१०;३७।३]

मारुतस्तु सप्तकपालः (,,) । श० २।५।१।१२

मारुतं सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति । श० ५।३।१।६

मरुतो वै देवाना भूयिष्ठ: । ता. १४।१२।९, २१।१४।३

मरुतो हि देवाना भूयिष्ठाः । तै० २।७।१०।१

मरुतो ह वै देवविशोऽन्तारिक्षभाजना ईश्वराः । कौ ७।८

विशो वै **मरुतो** देवविशः । श० २।५।१।१२, ३।९।१।१७-१८,ऐ. १।१०

मरुतो वे देवानां विशः । ऐ १।९, तां. ६।१०।१०, १८।१।१४[काठ. ८।८]

अहुतादो वै देवाना **मरुतो** विट् । श० ४।५।२।१६

विड् वै **मरुतः** , तै० १।८।३।३; २।७।२।२ [काठ० २९।९; ३७।३]

विशो **मरुतः** । श० २।५।२।६,२७; ४।३।३।६ [काठ० ३८।१९८]

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध